सम्पादकीय

आर्थिक महाशक्ति बनाम भूख और गरीबी

हमारे देश के शासक वर्ग, उनके समर्थक अर्थशास्त्री और मीडिया अक्सर यह दावा करते हैं कि भारत 2020 तक आर्थिक महाशक्ति बन जायेगा। इसके लिए वे उ+ँची आर्थिक विकास दर, भारी-भरकम विदेशी मुद्रा भण्डार और बढ़ते विदेशी निवेश का बखान करते हैं।

जनता को आर्थिक महाशक्ति की क्रीम पिलानेवाले इन कड़वी सच्चाइयों से मुँह चुराते हैं कि देश की लगभग 84 करोड़ जनता 20 रुपये रोज पर गुजारा करती है, पिछले 10 वर्षों में डेढ़ लाख से ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की है। हर साल 5 लाख लोग टी.बी. से मर जाते हैं और 46 ीसदी बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। जिस देश की 80 ीसदी जतना भूख, बीमारी और कंगाली के नरक में पड़ी हो, उसे महाशक्ति बनाने की बात करने का भला क्या मतलब है? महाशक्ति बनने की यह खुशफ़हमी उस साजिशाना और शातिराना रिपोर्ट पर आधारित है जिसे सी.आई.ए. की थिंक टैंक राष्ट्रीय गुप्तचर परिषद् ने गढ़ा है। 'दुनिया के भविष्य की योजना' नामक इस रिपोर्ट के अनुसार 2020 तक भारत और चीन एक बड़ी वैश्विक ताकत के रूप में उभरेंगे। वे दुनिया के सामने चुनौती पेश करेंगे और अमरीका को भी उनकी चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा। इसी रिपोर्ट के आधार पर भारतीय मीडिया जनता में सुखबोध जगाने, उन्हें झूठे सपने दिखाने और जन-मानस की सोच को प्रभावित करने का प्रयास कर रहा है। वास्तव में ऐसी रिपोर्टों का मकसद असली मुद्दों से जनता का ध्यान हटाना और उसमें भ्रम ैलाना होता है। लेकिन इनका मकसद इससे कहीं ज्यादा होता है। अमरीका ऐसी बातों को क्यों हवा देता है?

इस तरह की रिपोर्टें अमरीकी सरकार या अमरीकी पूँजी निवेशक कम्पनियों द्वारा समय-बा-समय तैयार करायी जाती रहती हैं। यह कार्रवाई अमरीकी विदेश नीति का हिस्सा है और रणनीतिक उद्देश्य से इसे खूब सोच-समझकर गढ़ा जाता है। उसका एजेण्डा बहुत साफ़ है। अमरीका चाहता है कि 21 वीं सदी में भी उसकी महाशक्ति की हैसियत बरकरार रहे। साथ ही वह हर तरह के छल-प्रपंच अपनाते हुए तेल और पानी सहित दुनिया के सभी प्राकृतिक संसाधनों को नियन्त्रित कर लेने की रणनीति अपना रहा है। अमरीकी राष्ट्रीय गुप्तचर परिषद् द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट का उद्देश्य इसी लक्ष्य को हासिल करना है।

अमरीकी सरकार अपने साम्राज्यवादी मन्सूबे को पूरा करने के लिए मुख्यत: दो तरीके अपनाती है। आर्थिक घुसपैठ और सैन्य हस्तक्षेप। आर्थिक घुसपैठ भी, वह विभिन्न माध्यमों से सामाजिक और सांस्कृतिक घुसपैठ के जरिये करती है। कोक और मैक्डोनाल्ड की रणनीति द्वारा बाजार पर कब्जा जमाना भी इसी का अंग है। ऐसी रणनीति दुनिया के अन्य देशों की तुलना में चीन और भारत में बखूबी काम कर रही है। इन दोनों देशों में अमरीकी कम्पनियों द्वारा डिब्बा बन्द भोजन और पीने के पानी की आपूर्ति की जा रही है। अगली रणनीति भारत और चीन के साथ अमरीकी सैन्य सहयोग के रूप में सामने आ रही है।

सैन्य हस्तक्षेप के लिए भी अमरीका नये-नये तरीके अख्तियार करता है। जब सुनामी आयी तो अमरीका ने श्रीलंका और इण्डोनेशिया में राहत कार्य का बहाना बनाकर अपनी सैन्य टुकड़ी भेज दी, जबकि उन सरकारों ने ऐसी राहत की माँग भी नहीं की थी। अमरीकी इतिहास गवाह है कि अभी तक दुनिया के जिस भी हिस्से में उसने अपनी ौज भेजी है, वहाँ से उसे वापस नहीं लौटाया। भारत के साथ रणनीतिक साझेदारी और नाभिकीय समझौता भी इसी साम्राज्यवादी परियोजना का हिस्सा है।

इस पृष्ठभूमि के मद्देनजर यह समझना आसान है कि एक तरु भारत की महाशक्ति की महत्त्वाकांक्षा और दूसरी तरु भारतीय उप-महाद्वीप में सैन्य हस्तक्षेप व निगरानी चौकी स्थापित करने के अमरीकी मन्सूबे—दोनों का एक साथ संगम हुआ है। भारतीय उप-महाद्वीप में अभी तक तमाम प्रयासों के बावजूद अमरीका अपनी सैन्य चौकी स्थापित करने में सफल नहीं हुआ है और इस क्षेत्र पर उसकी पकड़ मजबूत नहीं है। उसकी इस रणनीति में भारत एक अच्छा मद्दगार साबित हो सकता है, इसलिए भारत को तरजीह देना आज

अमरीका की प्राथमिकता में है, अपने तुच्छ स्वार्थों के चलते भारत के शासक भी उसके साथ सहयोग के लिए तत्पर हैं।

किसी देश की समृ) की न्यूनतम शर्त यह है कि वहाँ के आम नागरिकों को रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा और स्वस्थ मनोरंजन आदि मूलभूत बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध हों। ये सुविधाएँ केवल थोड़े से धनी वर्ग तक ही सीमित न रहें बल्कि आबादी के निचले हिस्से तक इनका विस्तार हो। जिस देश की व्यापक आबादी इन बुनियादी सुविधाओं से वंचित हो और जानवर से बदतर जिन्दगी जीने को मजबूर हो, वह देश भला आर्थिक महाशक्ति बनने का ख्वाब कैसे देख सकता है?

वैज्ञानिक प्रगति के जिस दौर में आज हम जी रहे हैं, उसमें भारत सहित दुनिया में भी इतना साधन और सम्पदा उपलब्ध है कि हर आदमी की बुनियादी जरूरतें पूरी करना सम्भव है। लेकिन फिर भी वैश्विक भूख सूचकांक में भारत दुनिया के अन्तिम चार देशों में शामिल है। और मानव विकास सूचकांक में भी 177 देशों में भारत का स्थान 126 वाँ है।

देश की विकास दर चाहे जितनी तेजी से बढ़ रही हो, लेकिन असंगठित क्षेत्र के सर्वे की रिपोर्ट के अनुसार 77 ीसदी द्धलगभग 80 करोड़ऋ लोगों की आय महज 20 रुपये रोज है। संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व बैंक के मुताबिक प्रतिदिन 20 रुपये से कम आय-वाले लोग गरीबी रेखा के नीचे माने जाते हैं। सरकारी आँकड़ों में देश में भूखे लोगों की संख्या 32 करोड़ बतायी गयी है। जाहिर है कि सरकार हकीकत छिपा रही है। गरीबों की वास्तविक संख्या 80 करोड़ से ज्यादा है। आखिर यह कैसे मुमकिन है कि रोज 20 रुपये कमाने वाला आदमी अपना और अपने परिवार का पेट भर लेगा और अपने दूसरे खर्चे भी पूरे कर लेगा? सवाल यह भी है कि देश का सारा विकास जाता कहाँ है? इस विकास से देश के उन 77 ीसदी लोगों का भला क्या लेना-देना जो साक्षात नरक में धकेल दिये गये हैं? आय के बँटवारे में बढ़ती विषमता के बारे में राष्ट्रीय नमूना सर्वे की रिपोर्ट कहती है कि 1991 से 2002 के बीच भारत में लोगों के बीच धन की असमानता तेजी से बढ़ी है। ऊपरी 10 ीसदी लोगों की देश की कुल सम्पदा में हिस्सेदारी 52 ीसदी बढ़ी है जबकि निचले 10 ीसदी लोगों का हिस्सा आय में केवल 0.21 ीसदी ही है।

आज भारत में ऐसी वस्तुओं का ही उत्पादन बढ़ रहा है जिसका आम आदमी से कोई लेना-देना नहीं है। यदि हजार रुपये मीटर के कपड़े, लाखों-करोड़ों की मोटर गाड़ियाँ या ऐसी ही महँगी वस्तुओं का उत्पादन 20,40 या 100 ीसदी भी बढ़े तो भी यह केवल 10-12 ीसदी उ+परी तबके के लिए ही बढ़ता है। यदि 77 ीसदी लोगों की आय 20 रुपये प्रतिदिन है तो इसका स्पष्ट सा उत्तर यही है कि उत्पादन चाहे जितना ही क्यों न बढ़े, उससे असंगठित क्षेत्र के मजदूरों या किसानों को कुछ भी लाभ नहीं। डीजल, कीटनाशक और खेती के औजारों के मूल्यों में बढ़ोतरी होती है तो छोटे किसानों के लिए खेती करना कठिन हो जाता है। खेती का मशीनीकरण होने से खेत मजदूरों के लिए काम के अवसर कम हुए हैं और उनकी आय भी बहुत कम हो गयी है। अधिकांश खेत मजदूर बेकार हो गये हैं। अशिक्षित मजदूर छोटे-छोटे कस्बों के लेबर चौक पर सैकड़ों-हजारों की संख्या में सुबह से दोपहर तक छोटे-मोटे काम के इन्तजार में खड़े रहते हैं। उनमें से 90 ीसदी लोग काम न मिलने पर सूखी-बासी रोटियाँ खाकर दोपहर तक पुरानी जर्जर साइकिलों से या पैदल ही अपने कच्चे घरों में लौट जाते हैं।

आज बुन्देलखण्ड के किसानों की दशा असहनीय हो गयी है। जिन्दगी से हारकर वे आत्महत्या कर रहे हैं जबकि किसान कभी हारने वाला जीव नहीं रहा। यह इलाका दूसरा विदर्भ बनता जा रहा है। खाद्य सुरक्षा के दावों की पोल खोलते हुए पूर्वांचल में भूख से हुई मौतों की खबरें आ रही हैं। कबीर की काशी में बनारसी साड़ी के हुनरमन्द कारीगर खून बेचने को मजबूर हैं। बुन्देलखण्ड में सिंचाई के साधन नहीं हैं, किसान हर साल कर्ज लेकर खेत में बीज डालते हैं और बारिश की आश में आकाश की ओर ताकते रहते हैं। साहूकारों के पन्जों में फँसे किसान लगातार सूखे के चलते आत्महत्या कर रहे हैं। गाँव में जीप आने पर वे पुलिस या साहूकारों के वसूली ऐजेण्टों के भय से भागने लगते हैं। एक तरु नोएडा में दिल्ली को मात देती अट्टालिकाएँ खड़ी हैं तो दूसरी तरु कालाहाण्डी, बस्तर और बुन्देलखण्ड के इलाके बुनियादी सुविधाओं से भी महरूम हैं। ऐसे में यदि देश के हुक्मरान आर्थिक महाशक्ति की बकवास करते हैं तो उनके प्रति नफरत और गुस्से से मन भर आना स्वाभाविक है।

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था को परखने के दो मानदण्ड हो सकते हैं। पहला, सकल घरेलू उत्पाद, विकास-दर, प्रतिव्यक्ति आय, सेन्सेक्स, विदेशी मुद्रा भण्डार, आयात-निर्यात

में वृ) और करोड़पतियों-अरबपतियों की संख्या आदि। दूसरा, वहाँ के लोगों का स्वस्थ और दीर्घायु होना, सबके लिए शिक्षा का इन्तजाम, देश के सभी लोगों को उनकी बुनियादी जरूरतों जैसे-रोटी, कपड़ा, मकान, सफ़ पानी, बिजली, इलाज इत्यादि मुहै"या कराना। कोई भी आदमी इनमें से किस मानदण्ड से देश के विकास की जाँच करेगा यह इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति की आर्थिक-सामाजिक हैसियत क्या है?

गरीब और मेहनतकश वर्ग जो देश की आबादी का 85 ीसदी है, उसके लिए जरूरी है कि अर्थव्यवस्था को दूसरे मानदण्ड के आधार पर चलाया जाये। उनको एक सम्मानजनक जीवन चाहिए जो इस देश में उन्हें नसीब नहीं है। दूसरी ओर पूँजीपतियों, नेताओं, नौकरशाहों, कम्पनियों के सीईओ, ठेकेदारों, बिल्डरों, निर्यातकों, बड़े व्यापारियों, सटेबाजों और दलालों की आबादी है जो पूरे देश की आबादी के 15 ीसदी से ज्यादा नहीं हैं। वे अर्थव्यवस्था को पहले मानदण्ड के आधार पर चलाना चाहते हैं। उनकी नजर जल्दी से जल्दी ज्यादा मुनफ़ा कमाने पर लगी है–चाहे जैसे भी हो।

भाजपा का 'इण्डिया शाइनिंग' हो, चन्द्रबाबू नायडू का 'आई.टी.' प्रदेश और 'भारत निर्माण' व देश को 'विश्व शक्ति' बना देने के काँग्रेसी सरकार के दावे–ये सभी पहले वाले मानदण्ड पर आधारित है।

उन्हें इससे कोई र्क नहीं पड़ता कि 80 करोड़ लोग 20 रुपये रोज से भी कम पर किसी तरह गुजारा कर रहे हैं और देश में आत्महत्या करने-वालों की संख्या क्यों हर साल बढ़ती जा रही है।

अब हमें तय करना है कि विकास का कौन-सा मानदण्ड सही है और इसे कैसे जमीन पर उतारा जाये। q

वर्जित म त्युलोक की कविताएँ

'पहल' के नये अंक में प्रकाशित शाकिर अली की कविताएँ हिन्दी कविता में 70 के दशक में आये उस ऐतिहासिक बदलाव की अकस्मात याद दिलाती है जब महानगरों के खाते-पीते मध्यवर्ग के हाथों में ँसकर अनुभव वादी और भोगवादी बन चुकी तथा छह्न विद्रोह का नाटक रचती 'अकविता' की 'जाँघों के बीच की दो अंगुल जष्ठमीन' के भीतर ही समूची हिन्दी कविता के सोच और एस्थैटिक्स को जकड़ देने की साजिश को छिन्न-भिन्न कर देने वाली कविताएँ सामने आयी थीं। 'जनता का आदमी' 'जबरजोत' 'गोली दागो पोस्टर' जैसी कविताओं ने पतनशील शहरी भोगवादी अकविता का सारा भूगोल ही बदल डाला था। उच्छृंखल मध्यवर्गीय महत्त्वाकांक्षाओं का औजष्ठार बन चुकी 'अकविता' को इन ऐतिहासिक कविताओं ने देश के वृहतर यथार्थ से जोड़ा और उस भूगोल में दुबारा ले गयीं जहाँ उस समय की बहुसंख्यक विराट वंचित मनुष्यता कठिन उत्पीड़न, अन्याय और संकटों के बीच ँसी हुई थी। 'कविता की वापसी' इसी कारण सम्भव हो सकी थी। 'पहल' के इसी अंक में प्रकाशित कई पुराने प्रसि) कवियों की अन्य कविताओं को देखने से आप महानगरी कविता के सत्ताकामी, यशकामी और सत्तात्मक राजनीति के संजाल में ँसी आज की समकालीन हिन्दी कविता के भूगोल और संकटग्रस्त बस्तर के वर्जित प्रदेश में ले जाती शाकिर अली की कविताओं के विषय के बीच का अन्तर समझ सकते हैं।

q

मैं उनका ही होता

मैं उनका ही होता, जिनसे
मैंने रूप-भाव पाए हैं।
वे मेरे ही हिये बँधो हैं
जो मर्यादाएँ लाए हैं।
मेरे शब्द, भाव उनके हैं,
मेरे पैर और पथ मेरा,
मेरा अंत और अथ मेरा,
ऐसे किंतु चाव उनके हैं।
मैं ऊँचा होता चलता हूँ
उनके ओछेपन से गिर-गिर
उनके छिछलेपन से खुद-खुद,
मैं गहरा होता चलता हूँ।

–गजानन मा. मुक्तिबोध

फिदेल कास्त्रोः महानतम् आदर्श-पुरुष

❑ एजाज अहमद

इस बात में उनकी दृढ़ आस्था लगभग विस्मयकारी थी कि अन्तस्चेतना का समुचित संघटन ही मनुष्य की महानतम उपलब्धि है और दुनिया को बदलने और इतिहास को आगे बढ़ाने में भौतिक प्रोत्साहन के बजाय नैतिक प्रोत्साहन कहीं अधिक समर्थ होते हैं। मुझे यकीन है कि वे हमारे दौर के महानतम आदर्शवादी हैं...

–गेब्रियल गार्सिया मार्क्वेज

मार्ती ने हमें सिखाया है कि 'संसार का समस्त गौरव मक्का के एक दाने के बराबर है।' कई मर्तबा मैंने इस जुमले को दोहराया है जो ग्यारह शब्दों में नैतिक शास्त्र की एक खरी पाठशाला समाये हुए है।

–फिदेल कास्त्रो, ३१ दिसम्बर २००७ की राष्ट्रीय संसद में भाषण।

हमारे जैसे मार्क्सवादी वामपन्थियों के जीवन पर इस बात की गहरी छाप है कि फिदेल कास्त्रो हमारे दौर में सक्रिय रहे और हम राजनीति को हमेशा व्यवहारिक नैतिक शास्त्र की एक शाखा के रूप में ग्रहण करते हैं तथा कम्युनिस्ट सरकारों को भी हम इन्हीं नैतिकताओं की रोशनी में परखते हैं। हमारे दौर के किसी भी कम्युनिस्ट से अधिक फिदेल, हमें निरन्तर आगाह करते हैं कि हम जिसे 'वैज्ञानिक समाजवाद' कहते हैं, यह उनके शब्दों में 'नैतिक शास्त्र की एक शाखा' भी है, वरना व्यर्थ है। उनका यही पहलू गेब्रियल गार्सिया को 40 वर्षों से फिदेल का दोस्त बनाये हुए है, जिनकी नजर में फिदेल 'महानतम नैतिकतावादियों में से एक' हैं।

अमरीकी सेना की गोला बारी के दायरे में आनेवाला एक छोटा सा टापू जो अपने दुश्मन के 84 वें भाग के बराबर है–"लोरिडा के समुद्री तट से ठीक सामने बसा एक गरीब टापू जो कई वर्षों से मानव इतिहस के सबसे ताकतवर साम्राज्य की धमकियों के साये में जी रहा है–क्यों अमरीकी साम्राज्य का प्रतिरोध करना उसके लिए एकदम जरूरी है? भयावह भूचाल जब पाकिस्तान के उत्तरी इलाकों को तहस-नहस करता है तो वहाँ क्यूबाई डॉक्टर भेजना क्यों जरूरी है जबकि घेरेबन्दी के शिकार इस छोटे से देश क्यूबा का उस देश में या और कहीं भी कोई भौगोलिक स्वार्थ नहीं है?

पुर्तगाली उपनिवेशवाद से आजाद हुए अंगोला के उ+पर जब उस दौर के नस्लवादी दक्षिण अफीकी शासक आक्रमण करते हैं तो अंगोला की आजादी की रक्षा के लिए क्यों असंख्य क्यूबाई वहाँ अपनी जान कुर्बान करने जाते हैं? क्यों आज भी 18 देशों में क्यूबाई स्वास्थ्य कर्मी सक्रिय हैं, जहाँ वे असंख्य लोगों की जान बचा रहे हैं, जबकि वे उस देश से कोई सम्पत्ति तो क्या, अपनी तनख्वाह तक नहीं लेते? क्या कारण है कि 1990 के दशक में अपने क्रान्तिकारी जीवन के कठिनतम दौर में भी क्यूबा की सरकार इस बात की गारण्टी के लिए जान लड़ा देती है कि हर बच्चा स्कूल जाये और हरएक परिवार को विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा निर्धारित न्यूनतम स्वास्थ्य खुराक की भरपायी के लिए पर्याप्त कैलोरी और प्रोटीन मुहै"या किया जाये? और यह भी सुनिश्चित करे कि देश के सभी विक्लांग बच्चों को विशेष तरह के स्कूलों में या जरूरी हो तो उनके घर पर या अस्पताल में जाकर ही शिक्षा दी जाये?

यह क्यों जरूरी था कि जब अमरीकी शहर न्यू आर्लियान्स को समुद्री तूफान ने तबाह कर दिया तो क्यूबा की ओर से वहाँ लगभग एक हजार डॉक्टर और कई टन दवाईयाँ भेजने का प्रस्ताव दिया जाय, बावजूद इसके कि अमरीकी घेरेबन्दी के चलते क्यूबा को खुद ही हजारों करोड़ डॉलर का नुकसान हो चुका है?

ढेर सारी बातों में से एक बात जो फिदेल के शासनकाल को इतिहास में इतना लाजवाब बनाती है। वह यह कि वे इन व्यवहारिक सवालों को हमेशा नैतिकता से जोड़ते हैं। जो देश अपने हर एक बच्चे को द्धऐसे बच्चों को भी जो आत्मसम्मोहन जैसी हीनता के शिकार होऋ स्कूल नहीं भेजता, अपने सभी नागरिकों के लिए बुनियादी पोषक तत्वों की गारण्टी नहीं करता या कुपोषण और साध्य बीमारियों को जड़ से नहीं मिटाता, वह उनकी नजर में ने केवल वर्ग और

नस्ल के लिहाज से बहुत गहराई तक बँटा हुआ समाज है, बल्कि सीधे-सीधे वह एक अनैतिक राष्ट्र है। नैतिकता सांसारिक वस्तुओं में निहित होती है तथा मार्ती और मार्क्स, दोनों से एक समान प्रभावित और उससे निसृत उनकी अपनी 'नैतिकशास्त्र की शाखा'–राष्ट्रवादी और समाजवादी नैतिकता–''संसार का समस्त गौरव मक्का के एक दाने के बराबर है,'' इसका तभी कोई मतलब है जब हर बच्चा पोषित और शिक्षित हो, चाहे वह गाँव का हो या शहर का और जब हर राष्ट्र अपनी विपुल सम्पदा को जहाँ तक सम्भव हो, उपहार के रूप में दूसरे राष्ट्रों के साथ आपस में बाँटता हो।

फ़िदेल को इस बात पर गर्व है कि क्यूबा के लोग उन ढेर सारी बीमारियों से नहीं मरते जो तीसरी दुनिया के देशों को अपनी चपेट में लिये हुए हैं, बल्कि वे केवल उन्हीं बीमारियों के कारण मरते हैं जो विकसित देशों में प्रचलित हैं, जिनमें हृदय रोग, कैन्सर और आकस्मिक दुर्घटनाएँ प्रमुख हैं। लेकिन क्यूबा जैसा गरीब देश धरती के दूर दराज के कोनों में अपने हजारों डॉक्टरों को वहाँ के लोगों की जान बचाने के लिए क्यों भेजता है, जबकि बदले में वह कुछ लेता भी नहीं? हाँ फ़िदेल को जोस मार्ती की बातें दुहराने का शौक है। क्यूबाई राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद विरोध के संस्थापक पुरखे जोस मार्ती के 28 खण्ड तो जैसे फ़िदेल को कण्ठस्थ ही हैं–''मानवता ही स्वदेश है।'' एक ऐसा राष्ट्रवाद जिसके केन्द्र में हमेशा सम्पूर्ण मानवता के प्रति कर्त्तव्य की गहरी भावना है, अपने सर्वोत्तम भावों के साथ 'सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद।''

1950 के दशक में एक नौजवान के रूप में अपने शुरुआती राजनीतिक विकास के दौरान फ़िदेल एक राष्ट्रवादी थे द्धअपने द्वीप-देश के अमरीकी शोषण के विरू)ऋ तथा एक पूँजीवादी जनवादी द्धएक धनी भूस्वामी के पुत्र, वकालत की पढ़ाई किये हुए, बातिस्ता की तानाशाही के खिलफ़, लेकिन साम्यवाद विरोधी भीऋ। फ़िदेल जब अपनी जवानी में एक पूर्णत: पूँजीवादी राजनीतिक पार्टी के वामपक्ष के सदस्य थे, तब उनके छोटे भाई राउल द्धजो उनके बाद अब क्यूबा के राष्ट्रपति बने हैंऋ अपने छात्र जीवन में साम्यवादी विचारों के प्रति आकर्षित हुए थे। कहा जाता है कि उन्होंने ही फ़िदेल और थोड़े दिनों बाद चे ग्वेरा का भी साम्यवाद से परिचय कराया था। केवल राउल और चे के साहचर्य में ही नहीं, बल्कि निर्धनतम किसानों के बीच काम करते हुए भी फ़िदेल वामपंथ की दिशा में क्रमश: आगे बढ़ते चले गये। यह उस महागाथात्मक क्रान्तिकारी यु) के दौर की बात है जिसे वे 1959 के पहले ह"ते में विद्रोही सेना के प्रमुख के रूप में हवाना में प्रवेश करने से पहले सियेरा मायेस्त्रा के पहाड़ी इलाकों में संचालित कर रहे थे। उस सेना का नाम भी सांकेतिक था–वे अमरीका द्वारा प्रायोजित बातिस्ता की तानाशाही के खिलफ़, ''विद्रोही'' थे। उस अवस्था में भी उनकी पहचान एक वामपंथी लोकप्रियतावादी के रूप में ही थी।

वैचारिक रूपान्तरण

साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवाद के प्रति अमरीका की चरम शत्रुता से ही फ़िदेल को यह सीख मिली कि राष्ट्रवाद को अपनी वर्ग अन्तर्वस्तु तय करनी ही होगी। पूँजीवाद का ज्यों का त्यों अनुसरण करते हुए साम्राज्यवादी वर्चस्व का विरोध नहीं किया जा सकता। साम्राज्यवाद विरोधी होने के लिए समाजवादी भी होना जरूरी होगा।

सत्ता में आने के लगभग 18 महीने बाद, अक्टूबर 1960 में ही उन्होंने समाजवाद के बारे में बोलना शुरू किया। हालाँकि खुला और निर्णायक मोड़ बे ऑफ़ पिग्स पर अचानक अमरीकी हमले से एक दिन पहले, 16 अप्रैल 1961 के उनके मशहूर भाषण में ही आया। गुंजायमान आरोह-अवरोह के साथ उन्होंने कहा था कि, ''साम्राज्यवादी, हमारे अस्तित्वमान रहने तक हमें बख्शेंगे नहीं...मजदूर और किसान साथियों, यह क्रान्ति जनसाधारण, जनसाधारण के सहारे और जनसाधरण के लिए समाजवादी और जनवादी क्रान्ति है...हमारे स्वदेश के शहीद जिन्दाबाद! हमारे राष्ट्रनायक जिन्दाबाद! समाजवादी क्रान्ति जिन्दाबाद! आजाद क्यूबा जिन्दाबाद! स्वदेश या मौत! स्वदेश या मौत!

द्धपैत्रिया ओ मुएर्तेऋ–आने-वाले कई वर्षों तक भूमण्डल के एक छोर से दूसरे छोर तक इस हुन्कार की अनुगूंज सुनाई देती रही। सबसे आकर्षक और सर्वाधिक ऐतिहासिक महत्त्व की बात यह है कि समाजवाद के साथ प्रतिब)ता का उद्भव भी साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवाद के एकमात्र सम्भव तार्किक क्रियान्वयन के रूप में हुआ। राष्ट्रवाद की आन्तरिक जरूरतों से ही एक नैतिक अनिवार्यता के रूप में समाजवाद का उदय हुआ। यह प्रसंग क्यूबा की क्रान्ति के ऐतिहासिक दस्तावेज

में बड़े ही सफ़-सफ़ शब्दों में आया है–फ़िदेल के 2 दिसम्बर 1961 के भाषण में जिसे आम तौर पर, ''मार्ती से मार्क्स तक'' के नाम से जाना जाता है–एक शानदार भाषण जिसमें अन्य बातों के अलावा कहा गया है कि 'पूँजीवाद और समाजवाद के बीच कोई बीच का रास्ता नहीं है। जो लोग तीसरे रास्ते की खोज करने का दुराग्रह करते हैं, वे लुढ़कते हुए एक निहायत ही झूठी और काल्पनिक अवस्थिति तक पहुँच जाते हैं। यह अपने आपको धोखा देने के समान है। इसका अर्थ साम्राज्यवाद का सहअपराधी होना है। इस राजनीतिक और वैचारिक संक्रमण के बाद 1965 में जाकर ही, आज हम जिसे क्यूबा की कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में जानते हैं, उसके गठन की तैयारी शुरू हुई।

फ़िदेल क्यूबा की क्रान्ति के अपने नेतृत्व के दौरान कभी भी इस अवस्थिति से विचलित नहीं हुए। लेकिन फ़िर भी समाजवाद और साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवाद दोनों को ही बराबर महत्त्व देने के चलते क्यूबा की विदेश नीति दुनिया भर की जनता का एक विश्वव्यापी क्रान्तिकारी मोर्चा बनाने के लिए ही नहीं, बल्कि सरकारों को साथ लेकर जितने भी मंचों और जितने ही तरह के मुद्दों पर सम्भव हो, साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए भी समर्पित थी। इस तरह, बावजूद इसके कि पूँजीवाद और समाजवाद के बीच किसी 'तीसरे रास्ते' के बारे में किसी भी बकवास को 'झूठा और काल्पनिक' तथा 'साम्राज्यवाद का सहअपराधी' बताया गया, गुट निरपेक्ष आन्दोलन के वास्तविक भौतिक रूप को अमरीकी साम्राज्यवाद के अत्यन्त आक्रामक तौर तरीकों के खिलफ़ सरकारों के एक व्यापक संयुक्त मोर्चे का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपाय माना गया और अंगोला से लेकर हैती, पाकिस्तान और वेनेजुएला तक विभिन्न प्रकार के देशों में चाहे वहाँ जैसी भी व्यवस्था क्यों न हो, आपातकालीन स्थितियों से निपटने के लिए क्यूबाई डॉक्टरों को रवाना किया गया। इन सभी बातों में हमेशा यह विचार अन्तर्गुन्थित रहा कि दुनिया की जनता को और दुनिया की सरकारों को भी अपने ठोस उदाहरण और इस विचार से प्रेरित करना क्यूबा के लिए जरूरी है जो इसके राष्ट्रीय नायक ने निरुपित किया था कि 'मानवता ही स्वदेश है।'

ऐतिहासिक रूपान्तरण

खुद अपनी जनता की सेवा करने और दुनिया को प्रभुत्व के जरिये नहीं बल्कि सीधे सरल उदाहरण के जरिये शिक्षित करने में ही यह तथ्य शामिल है कि क्यूबा एक मात्र लातिन अमरीकी देश है, जहाँ कुपोषण बिल्कुल नहीं है और लगभग सौ-ीसदी शिक्षा है, जहाँ प्राथमिक और निम्नमाध्यमिक स्कूलों में हर 20 छात्रों पर एक शिक्षक का मानदण्ड तय है, जो दुनिया के किसी भी देश की तुलना में प्रति व्यक्ति कहीं ज्यादा डॉक्टर तैयार करता है, जहाँ राष्ट्र के तकनीकी और वैज्ञानिक कर्मियों में महिलाओं का बहुमत है, जहाँ प्रति-हेक्टेयर कृषि उपज में इजफ़ा हुआ है। जबकि रसायनों के प्रयोग में कमी आयी है और पर्यावरण को टिकाऊ बनाये रखने वाली प्राकृतिक लागतों के प्रयोग में वृ) हुई है, तथा इसके हजारों चिकित्सा कर्मी दुनिया भर में लोगों की जान बचा रहे हैं और अमरीका सहित उस पूरे गोला)र्ध के डॉक्टरों को प्रशिक्षित कर रहे हैं। यह सारा काम अमरीका के समस्त दबावों और तोड़-ोड़ की कार्रवाइयों के बावजूद हो रहा है। अमरीकियों ने क्यूबा के खिलफ़ जो घेरेबन्दी की है, उसके चलते इस द्वीप-देश को करोड़ों डॉलर का नुकसान उठाना पड़ा है।

अपने देश के इन ऐतिहासिक रूपान्तरणों की देखभाल करके फ़िदेल को भारी सन्तुष्टि हुई है और खास तौर पर 1990 के दशक के दौरान सोवियत संघ के ध्वंस के बाद अपने समाजवादी राज्य की ह्रिाजत करने में, जिसके चलते क्यूबा की अर्थव्यवस्था में ऐसी अराजकता मची थी कि उसके कुछ क्षेत्र अवनति करके क्रान्ति से पहले के स्तर तक पहुँच गये थे। इन सब की भारी पैमाने पर दुबारा क्षतिपूर्ति क्यूबा की अर्थव्यवस्था के लिए एक चमत्कार रहा है। भले ही उसे व्यवस्थागत विकृतियों के रूप में इसकी कीमत चुकानी पड़ी हो। फ़िदेल को इस बात का भी सन्तोष है कि उनके कुछ उत्तराधिकारी लातिन अमरीका के दूसरे देशों में भी सत्तासीन हुए हैं, खास तौर पर वेनेजुएला और बोलिविया में। ह्यूगो शावेज एक राष्ट्रवादी, लोकप्रियतावादी और अर्धवामपन्थी सैनिक अधिकारी थे, जैसा कि फ़िदेल खुद अपनी युवावस्था में थे, लेकिन फ़िदेल की देख-रेख में विकसित होकर, वे निर्भीक क्रान्तिकारी बने। फ़िदेल का हाल ही में बीमारी का शिकार होना एक बड़ी उदासी का सबब है जिससे शावेज को जल्दी ही लातिन अमरीकी क्रान्ति के इस महान बुजुर्ग के मशवरे के बिना ही काम करना होगा। इवो मोरालेस भी बोलीविया के राष्ट्रपति चुने जाने के बाद तुरन्त ऐसे मशवरे

के लिए फ़िदेल के पास गये। मोरालेस के लिए अपने देश के भीतर की कार्यनीति तय करने में ही नहीं, बल्कि एक तरु बोलीविया और वेनेजुएला के बीच तथा दूसरी तरु बोलीविया और ब्राजील के बीच आपसी सम्बन्धों को तय करने में भी फ़िदेल की केन्द्रीय भूमिका रही है। और यह देखकर हमेशा खुशी होती है कि लातिन अमरीका की दो विराट अर्थव्यवस्थाओं अर्जेण्टीना और ब्राजील के राष्ट्रपति हाल के वर्षों में बार-बार फ़िदेल का सम्मान करते हैं, जबकि उनके साथ क्षणिक मेल मिलाप भी वाशिंगटन में बैठे बाहुबली का कोपभाजन बनने के लिए काफ़ी है।

फ़िदेल लातिन अमरीका में अपने नैतिक प्राधिकार की पराकाष्ठा पर पहुँचकर अब अपनी कुछ जिम्मेदारियों से खुद को अलग कर रहे हैं, लातिन अमरीका जो आज अपने महानतम नायक के रूप में उनका आदर करता है। वहाँ सीमोन बोलिवार और जोस मार्ती जैसे नायक हुए। फ़िदेल के एतिहासिक कद की तुलना इनमें से किससे की जाये?

फिदेल का इस्तीफा

अधिकांश मानवता के लिए महान क्रान्तिकारी और अमरीकी साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी फ़िदेल कास्त्रो के बारे में वैश्विक मीडिया अफ़वाह फ़ैलाता है कि उन्होंने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया। इस तरह के विचारों का सबसे जोरदार खण्डन किसी और ने नहीं, बल्कि ह्यूगो शावेज ने किया जो लातिन अमरीका के स्तर पर फ़िदेल के सच्चे उत्तराधिकारी हैं। फ़िदेल जैसा प्रभावशाली व्यक्ति, ''कभी अवकाश ग्रहण नहीं करता,'' उन्होंने कहा कि ''फ़िदेल हमेशा नेतृत्वकारी भूमिका में रहेंगे।'' सच्चाई इन दावों के बीच कहीं न कहीं है जिसका समाहार न्यूज एजेन्सी प्रेन्सर लातिना के वाक्यांश में अच्छी तरह किया गया है–''फ़िदेल कास्त्रो के इस्तीफ़ा न देने के निर्णय को सरकार चलाने वाले नेताओं की उम्मीदवारी तक सीमित करना ठीक नहीं। यह एक ऐसी राह खोलता है जिसे एक सुनार की सावधानी और सूक्ष्मता के साथ गढ़ा गया है।'' यह बात तकरीबन सही है। इसमें कोई शक नहीं कि फ़िदेल हमारे दौर के सबसे अधिक स्वप्नदर्शी और निर्भीक क्रान्तिकारी हैं, लेकिन साथ ही वे पक्के यथार्थवादी भी हैं। विस्तृत और यथातथ्य ब्यौरों के प्रति उनका अनुराग काफ़ी हद तक उस 'सुनार' के समान है जो अनमोल और बेहद कठोर धातु पर काम करता है। निश्चय ही इन कठोर धातुओं में से कुछ तो खुद व्यक्ति विशेष का अपना 'स्व' ही होता है। 2007 के अन्त में राष्ट्रीय संसद में दिये गये अपने ताजा भाषण में उन्होंने रेखांकित किया–''अतल गहराई में, हर नागरिक अन्दर ही अन्दर खुद को जिन्दा रखने के सहज-बोधा से चिपके रहने की सहजात मानवीय प्रवृत्ति के खिलाफ़ एक व्यक्तिगत लड़ाई लड़ता रहता है...हम सभी लोगों पर इस सहज-बोधा की पैदाइशी छाप है...इस मनोवृत्ति से सीधे टकराना ग़ायेदमन्द है क्योंकि यह हमें एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की ओर, एक अटल और नि:स्वार्थ संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ाता है, हमें मार्ती के करीब लाता है और हमें सच्चा साम्यवादी बनाता है।'' भाषण के इस अंश पर थोड़ा ठहरकर चिन्तन-मनन करना चाहिए क्योंकि इन पंक्तियों में वे मार्क्सवाद की अपनी दार्शनिक समझ के बारे में हमें कुछ बताते हैं कि अपनी खुद की नैतिकता का वे किस तरीके से सामना करते हैं और अपनी खुद की नैतिकता के बरअक्स उन्होंने क्यूबा के राजनीतिक संक्रमण की क्या रूपरेखा तैयार की है।

दार्शनिक रूप से इन पंक्तियों में मानवीय अस्तित्व को जिन्दा बचे रहने की नितान्त व्यक्तिवादी मनोवृत्ति के रूप में समझा गया है जिसकी जड़े पशुवत जैविक जरूरतों में निहित हैं, जिसके खिलाफ़ फ़िदेल 'अटल और नि:स्वार्थ संघर्ष' की बात करते हैं। दूसरी जड़ें नैतिकता और राजनीति में हैं जो हमें साम्राज्यवाद विरोधी द्धमार्तीऋ और साम्यवाद द्धमार्क्सऋ के करीब ला खड़ा करता है। इसका मतलब है बहुजन हिताय के लिए निजी हितों से उ+पर उठना। लेकिन जो जैविकता हमें जिन्दा रहने की सहजात मनोवृत्ति प्रदान करती है वही हमारी अपनी नैतिकता की सच्चाई में भी विश्वास जगाती है, कोई महानतम नेता भी आखिर कब तक अपने पद पर जमा रहे और अपनी ही मृत्यु के लिए वह खुद को कैसे तैयार करे? इस संक्रमण की तैयारी आज से नहीं, बल्कि 10 साल पहले 1997 की पार्टी काँग्रेस से ही शुरू हो गयी थी जब राउल कास्त्रो जो उनके छोटे भाई हैं और 1953 में मोनकाडा बैरेक पर किये गये मशहूर हमले के संचालन में उनके सहयोगी थे और तभी से जब उन दोनों की चे ग्वेरा से मुलाकात भी नहीं हुई थी उनके सबसे करीबी कामरेड हैं, उनका जिक्र करते हुए फ़िदेल ने कहा था–''राउल मुझसे कम उम्र के हैं, मुझसे ज्यादा उ+र्जावान हैं। वे मेरी

तुलना में अधिक समय तक जीवित रहेंगे।'' कम उम्र के नेताओं की पूरी जमात का आमतौर पर जिक्र करते हुए फिदेल ने 1997 के उसी भाषण में कहा था कि ''मेरे पीछे दूसरे लोग हैं जो मुझसे कहीं ज्यादा रेडिकल हैं।''

जिस दस्तावेज को आज उनके 'इस्तीफे' के रूप में व्याख्यायित किया जा रहा है उसी में उन्होंने अपने '31 जुलाई 2006 के अन्तरिम इस्तीफे' का हवाला दिया है। वे एक लगभग जानलेवा शल्य चिकित्सा के लिए जाने वाले थे और इसलिए उन्होंने शीर्षस्थ पद की व्यवहारिक जरूरतों से खुद को अलग कर लिया था और अपना प्राधिकार राउल कास्त्रो की अगुआई में सात करीबी कामरेडों के सामूहिक नेतृत्व को सौंप दिया था। राउल कास्त्रो 1959 में क्रान्ति सम्पन्न होने के बाद से ही सशस्त्र बलों के प्रमुख हैं और न केवल पहले उप राष्ट्रपति के रूप में, बल्कि क्यूबा की कम्युनिस्ट पार्टी के पोलित ब्यूरों और केन्द्रीय कमेटी के उप-सचिव के रूप में भी काम कर रहे हैं। जिस सामूहिक नेतृत्व को देश की जिम्मेदारी सौंपी गयी है उसमें पुराने कामरेड, रैमीशे वाल्देस जो 75 वर्ष के हैं और जिन्होंने फिदेल और राउल के साथ मोनकाडा बैरेक पर हमले में हिस्सा लिया था। साथ ही इसमें कारलोस लेगे जैसे कम उम्र के लोग भी हैं। 56 वर्षीय लेगे ने 1990 के दशक में सोवियत संघ के पतन के बाद उत्पन्न संकट से निपटने के लिए नयी आर्थिक नीति तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

इस तरह पिछले डेढ़ वर्षों से ही क्यूबा एक सावधानी पूर्वक तैयार किये गये संक्रमण का चश्मदीद गवाह रहा है जिसके बारे में फिदेल ने अपने इस दस्तावेज में कहा है कि 'मेरा पहला कर्त्तव्य यह था कि हम अपने लोगों को राजनीति और मनोवैज्ञानिक तौर पर इस बात के लिए तैयार करें कि इतने सालों के संघर्ष के बाद अब वे हमारी अनुपस्थिति में भी काम कर सकें।'

यह दस्तावेज आज ही क्यों? इसका सीधा तर्क है कि क्यूबाई समाज सितम्बर 2007 से संसदीय चुनाव की एक तीव्र प्रक्रिया से गुजर रहा है जिसके तहत 16 वर्ष से अधिक उम्र के 96 फीसदी वैधा मतदाताओं ने गुप्त मतदान किया और 92 फीसदी लोगों ने महिलाओं, नौजवानों, छोटे किसानों और दूसरे अन्य लोगों की यूनियनों और अन्य लोकप्रिय संगठनों द्वारा मिलजुल कर खड़े किये गये संयुक्त उम्मीदवारों को चुना। 24 फरवरी 2008 को क्यूबा की राष्ट्रीय संसद, राज्य परिषद के लिए 31 सदस्यों को गुप्त मतदान से चुनने वाली थी जिन्हें राष्ट्रपति का चुनाव करना था। फिदेल का दस्तावेज राष्ट्रीय संसद की इसी महत्त्वपूर्ण बैठक को सीधे सम्बोधित था जो इस तरह शुरू होता है–'राज्य परिषद्, इसके राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति और सचिव को मनोनीत करने और चुनने का क्षण आ गया है।' इसके बाद उन्होंने क्यूबा की वर्तमान परिस्थिति के कई पहलुओं का संक्षिप्त अवलोकन किया और सन्तोष व्यक्त किया कि पार्टी के नेतृत्वकारी कार्यकर्ता आज लगातार तीन पीढ़ियों से लिये गये हैं–60 साल पहले क्रान्ति की शुरुआत करने वालों से लेकर क्रान्ति के बाद पैदा होने वालों तक। इस प्रक्रिया में फिदेल नें चार महत्त्वपूर्ण, गोपनीय वक्तव्य दिये–द्ध1ऋ 'राज्य परिषद् के राष्ट्रपति या कमाण्डर इन चीफ के पद की न तो मुझे आकांक्षा है और न ही मैं स्वीकार करूँगा।' द्ध2ऋ 'हमारा कर्त्तव्य पद से चिपके रहने या नयी पीढ़ी के राह में रुकावट बनना नहीं है।' द्ध3ऋ 'यह मेरी अन्तस्चेतना के साथ दगाबाजी होगी कि जिस काम के लिए इतना अधिक भाग दौड़ और समर्पण जरूरी है जितना मेरा शरीर इजाजत नहीं देता, उस काम को मैं स्वीकार करूँ।' द्ध4ऋ 'यह आपसे मेरी विदाई नहीं है। मेरी एक मात्र इच्छा है कि विचारों की लड़ाई में एक सिपाही की तरह मैं लड़ता रहूँ।' महत्त्वपूर्ण यह है कि फिदेल ने यहाँ पार्टी में अपनी स्थिति के बारे में कुछ नहीं कहा है।

अब, विचारों की लड़ाई

विचारों की लड़ाई में एक यो)ा की उनकी भूमिका अब राष्ट्रीय समाचार पत्रों में खुलकर सामने आ रही है जिनमें वे अपने जीवन के बारे में, क्यूबा की क्रान्तिकारी प्रक्रिया के बारे में, साम्राज्यवादी रणनीति के बारे में, लातिन अमरीका के देशों की समस्याओं के बारे में और सारी मानवता के सामने मौजूद आम समस्याओं के बारे में अपने विचार प्रकट करते हैं। उदाहरण के लिए फिदेल निस्सन्देह दुनिया के पहले राष्ट्राध्यक्ष हैं जिन्होंने 1992 में ही कहा था कि मानव जाति का भविष्य आज इन पारिस्थितिकीय आपदाओं के चलते दाँव पर लगा हुआ है जिसके लिए मुनाफे पर आधारित औद्योगिक उत्पादन तथा इस उत्पादन और पूँजी संचय की जरूरत के रूप में फैलायी गयी उपभोक्तावादी संस्कृति जिम्मेदार है। जीवन की गोधूलि बेला में उनकी महत्त्वपूर्ण

व्यस्तता यही है। समस्याएँ एक न एक रूप में सतह पर आती रहती हैं और उनके लेखन में झलकती रहती हैं। इनमें से सबसे ताजा दस्तावेज क्यूबा की अपनी ही राष्ट्रीय संसद को सम्बोधित है।

हालाँकि 'विचारों की लड़ाई में एक यो)ा' के रूप में उनकी भूमिका केवल इतनी ही नहीं है। पिछले 18 महीनों से जो संयुक्त नेतृत्व वहाँ काम कर रहा है। उसने कई बार बताया है कि फ़िदेल हर नीतिगत फ़ैसले के बारे में उन्हें आलोचनात्मक सुझाव और राय देते हैं, दूसरी ओर लातिन अमरीका के अन्य नेताओं जैसे, वेनेजुएला के शावेज, बोलीविया के इवो मोरालेस, ब्राजील के लुइस इनासियो द सिल्वा लूला और अन्य लोगों के साथ व्यावहारिक मसलों पर विचार-विमर्श करते हैं। इसलिए शावेज का यह दावा तथ्यत: सही है कि फ़िदेल सेवानिवृत नहीं हुए हैं और अभी भी 'नेतृत्व दे रहे हैं, हालाँकि आगे ले जाने के लिए मशाल, अब एक हाथ से दूसरे हाथ में थमायी जा रही है तथा राष्ट्रीय और महाद्वीपीय स्तर पर नेतृत्व के इस अबाध संक्रमण की वे खुद निगरानी कर रहे हैं। अगर क्यूबा में अगले राष्ट्रपति के रूप में राउल का मनोनयन होने वाला है तो पूरे लातिन अमरीका में शावेज को पहले ही उस गोला)ा में फ़िदेल का उत्तराधिकारी और उत्तरवर्ती माना जा रहा है। हालाँकि राष्ट्र के भीतर संक्रमण की यह प्रक्रिया कुछ वर्ष और चलेगी, जब तक 1959 के पुराने अनुभवी लोग नई पीढ़ी के नेताओं को अन्तिम रूप से मशाल न थमा दें, जो मूल क्रान्ति को सम्पन्न करने वाले नहीं है बल्कि उसकी पैदाइश हैं।

हर एक क्रान्ति निश्चय ही अपनी मौलिकता का आविष्कार करती है। चीनी क्रान्ति बोल्शेविक क्रान्ति की अनुकृति नहीं थी और न ही वियतनामी क्रान्ति चीनी क्रान्ति की अनुकृति थी। फ़िदेल ने जिस क्रान्ति का सूत्रपात किया था, वह बोल्शेविक क्रान्ति को छोड़कर अन्य क्रान्तियों से कहीं अधिक मौलिक थी। जिन लोगों ने सियेरा मायेस्त्रा के दूर दराज के पहाड़ी दुर्गों में गुरिल्ला आधार क्षेत्र तैयार किये थे, वे आपस में क्रान्तिकारी भाईचारे से बँधे थे लेकिन किसी पाटी संगठन से नहीं जुड़े थे, हालाँकि फ़िदेल को शुरू से ही बराबर के लोगों में प्रथम माना जाता था। दूर दराज के छुटपुट और घटिया खेती के इलाकों में बातिस्ता के सशस्त्र सैनिकों से लड़ते हुए, अपना आधार फ़ैलाते हुए, वे बचे रहे तो इसका श्रेय निर्धनतम किसानों में उन्होंने जो विश्वास पैदा किया था, उसे ही है, जबकि उनमें से अधिकांश लोग खुद शहरी मध्यम वर्ग के थे। वे अपने आप ही सीखे हुए विद्रोही सेना के सिपाही थे। फ़िदेल के बाद इस सेना में दूसरे नम्बर पर सर्वाधिक प्रतिष्ठित और प्रभावी व्यक्तित्व अर्जेण्टीना में जन्मे चे ग्वेरा थे। विद्रोही सेना के अधिकांश सिपाही, काडर थे, चीन और वियतनाम की तरह किसान जन-समुदाय नहीं।

फ़िदेल 1953 में अदालत में दिये गये अपने महत्त्वपूर्ण विद्रोही भाषण के बाद ही महानायक बन गये थे। वह भाषण 'इतिहास मुझे सही साबित करेगा' के नाम से छपा और उसकी हजारों प्रतियाँ बँटी। यह महागाथा तब विराट से विराट होती गयी, जब पहाड़ों में चलने वाला गुरिल्ला यु) शहरों तक पहुँचा, जहाँ गुप्त ोतों से उन्हें भरपूर सहायता प्राप्त हुई और जब 8 जनवरी को विद्रोही सेना ने हवाना मार्च किया तो वहाँ एक बड़े पैमाने की हड़ताल शुरू हो गयी तब तक तानाशाह बातिस्ता देश छोड़कर भाग गया था और हवाना के रास्ते भर लड़ते आ रहे गुरिल्लाओं ने बिना एक भी गोली दागे सत्ता पर कब्जा कर लिया। इतना सब होने तक वे किसी भी चरण में शहर की किसी राजनीतिक पार्टी से नहीं जुड़े थे और खुद पर भरोसा करते हुए ही, सादी-स्लेट से उन्होंने अपना खुद का राज्य और अपनी राजनीति को संगठित करना शुरू किया।

क्यूबा की क्रान्ति कम्युनिस्ट क्रान्तियों में शायद सबसे कट्टर कम्युनिस्ट क्रान्ति रही है, लेकिन जिन नेताओं ने उसे समाजवाद की ओर आगे बढ़ाया, वे क्रान्ति करते समय खुद ही कम्युनिस्ट या सै)ान्तिक मार्क्सवादी भी नहीं थे। उनकी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना क्रान्ति से पहले नहीं, बल्कि सत्ता पर कब्जा करने के छ: साल बाद हुई। उन्होंने उद्योगों का और साथ ही कृषि का भी तत्काल और व्यापक पैमाने पर राष्ट्रीयकरण किया। **लेकिन उनके दो प्रमुख नेताओं, फ़िदेल और चे की राय में साम्यवाद के लिए 'उत्पादक शक्तियों' के विकास से कहीं ज्यादा जरूरी था, उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ाों का रूपान्तरण और एक नये प्रकार की अन्तस्चेतना का निर्माण। इसे ही चे ग्वेरा 'नये समाजवादी मनुष्य' का निर्माण कहा करते थे।**

फ़िदेल अपनी नौजवानी के शुरुआती वर्षों से ही एक रैडिकल विद्रोही, विद्रोही राष्ट ावादी थे, लेकिन बोलीवार और मार्ती की महान परम्परा में इस राष्ट्रवाद का उनके युवावस्था

के पूरे दौर में देशों की सीमाओं से परे, सम्पूर्ण लातिन अमरीका के प्रति सामूहिक देश भक्ति के साथ बेजोड़ संयोजन हुआ था। 1947 में, जब फ़िदेल बामुश्किल 18 साल के थे और अभी पढ़ ही रहे थे, तभी वे डोमिनिकल रिपब्लिक में ट्रूजिलो की तानाशाही के खिलाफ़ एक सशस्त्र बगावत के वालंटियर बने थे हालाँकि वह बगावत हो नहीं पायी थी। उनकी अगली राजनीतिक कार्रवाई बोलीविया, पनामा और वेनेजुएला का उनका दौरा था जिसका मकसद अमरीका द्वारा प्रायोजित अमरीकी सरकारों के संगठन द्धओ. ए. एस.ऋ के पहले सम्मेलन के जवाब में साम्राज्यवाद-विरोधी लातिन अमरीकी छात्र सम्मेलन के आयोजन की मदद करना था। जब वे कोलम्बिया में थे, तभी उन्होंने राजधानी बगोटा में अप्रैल 1948 में हुए विद्रोह में हिस्सेदारी की थी। बाद के कुछ वर्ष उन्होंने क्यूबा में बातिस्ता की तानाशही के खिलाफ़ विभिन्न प्रकार के विरोधों का संगठन करने में बिताये, जो 1953 में उठ खड़ा हुआ था। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब उन्होंने विद्रोही सेना के संगठन का प्रयास शुरू किया तो तैयारी की अवधि के दौरान पीछे हटकर, वे क्यूबा के दूर देहात के इलाके में जाने के बजाय मैक्सिको गये थे।

जहाँ तक चे की बात है, वे अर्जेण्टीना के उच्च वर्ग में पैदा हुए थे और कास्त्रो बन्धुओं से मुलाकात से पहले उन्होंने लातिन अमरीका के एक छोर से दूसरे छोर तक खुद यात्रा की थी। क्यूबाई क्रान्ति में वे पूरे मनोयोग से कूद पड़े, अफ्रीका में क्रान्ति के लिए लड़े और बहुत कम उम्र में ही बोलीविया मे क्रान्ति संगठित करने की कोशिश के दौरान उनकी मृत्यु हुई। जब हाल ही में इवो मोरालेस ने राष्ट्रपति का चुनाव जीता और कार्यभार ग्रहण करने से पहले ही, फ़िदेल के पास उनके प्रति सम्मान प्रकट करने गये तो उन्होंने कहा कि चे ग्वेरा ने जिस काम की शुरुआत की थी, उसे ही पूरा करने की जिम्मेदारी वे और उनके साथी आज निभा रहे हैं। फ़िदेल और चे हमेशा ही कयूबा की क्रान्ति को समग्र लातिन अमरीकी क्रान्ति की दिशा में बढ़ाया गया पहला कदम मानते थे। लेकिन महज लातिन अमरीका ही नहीं।

सत्ता में आने के तत्काल बाद, फ़िदेल ने इस बात पर जोर देना शुरू किया था कि क्यूबा केवल एक कैरीबियाई या लातिन अमरीकी देश नहीं, बल्कि अफ्रीका के साथ भी यह खून के रिश्ते और जिम्मेदारी से बँधा है क्योंकि गुलामों का व्यापार करने वाले उपनिवेशवादी असंख्य अफ्रीकी लोगों को जन्जीरों में बाँधकर गोरे लोगों के प्लाण्टेशन में काम करने के लिए वहाँ ले आये थे। जब अंगोला, इथोपिया और कांगो के मुक्ति यु) में लड़ने के लिए क्यूबा ने अपने सैनिक भेजे तो फ़िदेल का कहना था कि अफ्रीका की मुक्ति के लिए क्यूबा के लोगों द्वारा अपना खून बहाना तो हमारे उ+पर अफ्रीकी महाद्वीप की जो देनदारी है, उसका एक तुच्छ भाग है, क्योंकि एक जमाने में हमारे देश में अफ्रीकी गुलाम मजदूरों का शोषण होता रहा है।

लातिन अमरीका और अफ्रीका से भी आगे, मार्ती ने एक व्यापक विचार व्यक्त किया था और फ़िदेल ने उसे अपनाया–''मानवता ही स्वदेश है।'' फ्रांस की नाराजगी मोल लेकर भी अल्जीरिया में लड़ने के लिए और फ़िर मोरक्कों के अतिक्रमण से अल्जीरियाई भूभाग की ह्रिाजत के लिए वहाँ सैनिक भेजना पुराने उपनिवेशों के साथ भाईचारे की एक शुरुआती कार्रवाई थी और बहुत कम ही लोग जानते हैं कि 1973 में इजराइल के साथ यु) के दौरान क्यूबा के सैनिक गोलान पहाड़ियों के पार, सीरिया के पक्ष में तैनात थे। चे ने जिस नारे का ट्ठघोष किया था–''दो, तीन, कई-कई वियतनाम,'' वह कोई खोखला शब्दजाल नहीं था। वे गम्भीरता से यह सोचते थे कि अमरीकी आक्रमण के खिलाफ़ हिन्द चीन की जनता के साथ भाईचारा निभाने का सबसे बढ़िया तरीका यह है कि दुनिया के अन्य भागों में इसके खिलाफ़ सैनिक मोर्चा खोल दिया जाये और इसी दृढ़ आस्था को कायम रखने के लिए वे बोलीविया में ऐसा ही मोर्चा खोलने गये थे।

दुनिया के किसी भी देश ने वैसा नहीं किया जैसा चारों ओर से घिरे और प्रतिबन्धित, एक छोटा सा टापू, अमरीकी घेरेबन्दी और अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की उपेक्षा के बावजूद अपने विकास के लिए संघर्षरत फ़िदेल के क्यूबा ने कर दिखाया। किसी भी सच्चे साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रवाद के लिए यह अनिवार्य है कि वह एक दृढ़ अन्तरराष्ट्रीयतावादी हो। क्यूबा ने जिस अन्तरराष्ट्रीयतावाद को व्यवहार में लागू किया, वह निश्चय ही समाजवादी सि)ान्तों पर आधाारित था। हालाँकि यह समाजवादी अन्तरराष्ट्रीयतावाद भी क्यूबाई छाप लिये हुए, दूसरे, तीसरे और चोथे इण्टरनेशनल से कही अलग रहा है।

अन्तरराष्ट्रीयतावाद और ''मानवीय हस्तक्षेप''

''मानवीय हस्तक्षेप,'' के नाम पर साम्राज्यवादियों द्वारा किये गये कुकृत्यों ने इसे गाली का रूप दे दिया है। लेकिन अगर इसे देशों की सरहद से परे मानवीय जिम्मेदारियों के समाजवादी संस्करण में ढाला जाये तो इसका क्या अर्थ हो सकता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है, 18 देशों में हजारों क्यूबाई डॉक्टरों का अन्तरराष्ट्रीय भाईचारे की भावना से नि:स्वार्थ सेवा करना हालाँकि फिदेल के स्वप्नदर्शी मार्गदर्शन में आज जो काम हो रहे हैं उनकी तुलना में यह काम भी फीका है। 2005 में मेडिकल की पढ़ाई पूरी करने वालों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने जो भाषण दिया था, उसके कुछ अंशों में इन बातों की झलक मिलती है। वे कहते हैं–

''लातिन अमरीकी स्कूल और मेडिसिन से अपनी पढ़ाई पूरी करने वाले दक्षिण, मध्य और उत्तरी अमरीका के देशों से आने वाले लातिन अमरीकी और कैरीबियाई छात्रों की कुल संख्या में, यदि आज अपनी पढ़ाई पूरी करके निकल रहे क्यूबाई नौजवानों की संख्या को भी जोड़ दे, तो कुल मिलाकर 3,515 नये डॉक्टर हो जायेंगे, जो हमारी जनता और पूरी दुनिया की सेवा करने जायेंगे।

यह संख्या तब तक बढ़ायी जायेंगी जब तक वह हर साल 10,000 डॉक्टरों तक न पहुँच जाये। 10 वर्षों में क्यूबा से एक लाख लातिन अमरीकी और केरीबियाई डॉक्टरों को प्रशिक्षित करने की हमारी इस वचनब)ता के लिए यह जरूरी है और जो क्यूबा और वेनेजुएला के बीच सम्पन्न एएलबीए द्धलातिन अमरीका और कैरीबियन के लिए बोलिवेरियाई विकल्पऋ के सि)ान्तों के अनुरूप है। हमारी जनता की एकता के मजबूत प्रयास के लिए यह योगदान जरूरी है।''

इसके बाद उन्होंने क्रान्ति के बाद अब तक क्यूबा द्वारा स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में किये गये अद्‌भुत कारनामों का तथ्यत: समाहार किया जो विश्व स्वास्थ्य संगठन ने सत्यापित किया है और फिर उन्होंनें क्यूबा–वेनेजुएला सहकार के बारे में शावेज के साथ चल रही अपनी बातचीत का हवाला देते हुए कहा–

''हम दोनों, वेनेजुएला और क्यूबा की जनता के नाम पर, अपने क्षेत्र में मानवीयता और अखण्डता के अवयवों को मजबूत बनाने के लिए स्वास्थ्य सेवा, साक्षरता, शिक्षा, मिशन चमत्कार, पेट्रोकेराइब, इलेक्ट्रोकेराइब, एच आई वी के खिलाफ संघर्ष तथा अन्य सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रमों मे सहयोग देने के लिए गम्भीरता पूर्वक वचनब) हैं।

मिशन चमत्कार के तहत 60 लाख लातिन अमरीकी और कैरीबीयाई जनता की आँखों की रोशनी बचाने और ठीक करने तथा 10 वर्षों में 2 लाख स्वास्थ्यकर्मियों को प्रशिक्षित करने की यह भारी जिम्मेदारी एकदम अभूतपूर्व है।

फिर भी मुझे विश्वास है कि ये कार्यक्रम अच्छी तरह पूरे होंगे। 30 जून को यह सुझाव आया कि मिशन चमत्कार को दूसरे कैरीबाई देशों में भी फैलाया जाये। आज 81 दिन बाद हम कह सकते हैं कि 4,212 कैरीबायाई लोगों की आँखों का ऑप्रेशन हुआ है और वेनेजुएला के हमारे 79,450 बहनों और भाइयों की आँखों का ऑप्रेशन हुआ है। इस तरह कुल 83,662 रोगियों की आँखों का इस साल इलाज हुआ है।

हमारे देश ने इस दिशा में जो प्रगति की है वह हमारे दूसरे देशों में भी उन डॉक्टरों द्वारा पहुँचायी जाएगी जो आज लातिन अमरीकी स्कूल ऑफ मेडिसिन में पढ़ना शुरू कर रहे हैं।

इसके बाद फिदेल ने पहले से गठित आपातकालीन परिस्थितियों और गम्भीर महामारियों के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित डॉक्टरों के अन्तरराष्ट्रीय दल की चर्चा की जिसमें 1500 स्वास्थ्यकर्मी हैं और जो हैती और पाकिस्तान जैसे विविधतापूर्ण देशों में क्यूबाई डॉक्टरों के अनुभवों से सीखते हैं और अब क्यूबा की क्रान्ति में लड़ते हुए मरनेवाले एक अमरीकी के सम्मान में इसका नाम बदलकर ''हेनरीरीव दल'' कर दिया गया है। फिर इसके विस्तार की योजना पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा–

''शुरुआत में यह ब्रिगेड पहले से मौजूद बल से ही इस नये नाम से काम करेगा। आनेवाले समय में 200 स्वयंसेवक इस साल के नये डॉक्टरों में से आयेंगे, 200 डॉक्टर 2003–04 में पढ़ाई पूरी करनेवालों में से होंगे, 600 डॉक्टर 2005–06 के सत्र में छठे वर्ष के छात्रों मे से होंगे, और 800 डॉक्टर उसी सत्र के पाँचवें वर्ष के छात्र होंगे। बाद में दूसरे नये डॉक्टर आयेंगे। कोई भी अपने को वंचित न समझे। हजारों की संख्या में कम्प्रेहेन्सिव जनरल मेडिसिन द्धआम चिकित्साऋ के विशेषज्ञों के अलावा कयूबाई नर्सिंग स्नातक और स्वास्थ्यकर्मी जो आज विदेशों में मिशन पर तैनात हैं या जिन्होंने अपना कार्यकाल पूरा कर लिया है,

वे हेनरीरीव दल के विपुल भण्डार हैं।''

दुनिया का कोई भी देश अपनी सरहद के पार मानवता की भलाई के लिए अपने संसाधनों का इतना बड़ा हिस्सा नहीं लगाता। यह अवधारणा ही 'मानवीय हस्तक्षेप' की उस धारणा को शर्मसार करने के लिए कही है(जिसके बारे में पश्चिमी पूँजीवादी भूराजनीतिक रणनीतिकारों और नैतिकता के दार्शनिकों के बीच बड़ी-बड़ी बातें होती हैं, लेकिन वे हमेशा अपने सैनिक हस्तक्षेप को जायज ठहराने के लिए, चाहे वह दूरस्थ बाल्कन क्षेत्र का अतिक्रमण हो या हॉर्न ऑफ अफ्रीका, इराक और अफगानिस्तान तो कहना ही क्या।

साम्राज्यवाद के क्रो ा का सामना

फिदेल के क्यूबा ने जो असंख्य दूसरी उपलब्धियाँ हासिल की हैं उनकी चर्चा हम यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं कर पा रहे हैं, जैसे-खाद्य सम्प्रभुता, लोक शिक्षा, स्त्री-पुरुष और विभिन्न नस्लों के बीच की समानता, टिकाऊ वैकल्पिक टेक्नोलोजी का विकास द्धखास तौर पर खेती के क्षेत्र मेंऋ और 1990 की आर्थिक तबाही से क्यूबा को उबारना इत्यादि।

यही कहना पर्याप्त है कि इन उपलब्धियों के कीर्तिमान और राष्ट्रों के जीवन को अनुप्राणित करने में क्यूबा की भूमिका को देखते हुए हम शायद यह भूल जाते हैं और लगभग सहज भाव से हम उन्हें एक मूर्तिमान विश्व नेता समझने लगते हैं, जिस मानदण्ड पर भारत, ब्राजील या दक्षिण अफ्रीका के किसी वर्तमान नेता की कोई उनसे तुलना भी नहीं करना चाहता। कम से कम लातिन अमरीका में उन्हें प्राय: सार्वभौम सम्मान प्राप्त है और शायद ही कोई लातिन अमरीकी नेता हो जो उनकी राय-सलाह न लेता हो।

फिर भी इन उपलब्धियों के वास्तविक परिणाम का तब तक अन्दाजा लगाना सम्भव नहीं जब तक हम यह नहीं देखते कि किस तरह क्यूबात अपने साम्राज्यवादी पड़ोसी के विद्वेष और लगतार हमलों का सामना कर रहा है। 1960 में अमरीका ने उस पर आंशिक प्रतिबन्ध लगाया और 1962 में पूरी तरह व्यापार प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके चलते केवल 2006 में ही उसे 8900 करोड़ डॉलर का नुकसान उठाना पड़ा। इस नीति के प्रत्यक्ष दुष्परिणाम के चलते क्यूबा को 400 करोड़ डॉलर का नुकसान हुआ था। इन नीतियों का जनसंहारक अभिप्राय शुरू से ही स्पष्ट रहा है। 6 अप्रैल 1960 को ही अमरीका के अन्तर-अमरीकी मामलों के उप-सहसचिव लेस्टर डी मैलोरी ने अपने उप सचिव को जो ज्ञापन भेजा था उसमें इसकी पूरी रूपरेखा दी गयी है।

क्यूबा की अ िकांश जनता कास्त्रो का समर्थन करती है। वहाँ कोई प्रभावी रानजीतिक विरो ी नहीं है...इस आन्तरिक समर्थन को दूर करने का एक ही सम्भावित सा ान है कि असन्तोष और आर्थिक कठिनाइयों के जरिये मोहभंग और निराशा पैदा की जाय...हमें जल्दी से जल्दी कोई सम्भव तरीका अपनाना चाहिए...जो भुखमरी हताशा और सरकार को उलटने का कारण बने।

दूसरे राष्ट्र में भुखमरी लाना एक जनसंहारक कार्रवाई है और अन्तरराष्ट्रीय कानूनों में इस पर पूरी तरह रोक है। 'सत्तापरिवर्तन' बुश के शासन काल के दौरान एक नैशनेबल जुमला बन गया है लेकिन यह कई-कई दशकों से अमरीका की सोची-समझी नीति रही है और क्यूबा के सन्दर्भ में वे बड़े ही खूँखार तरीके से इस मन्सूबे को आगे बढ़ते रहे हैं। फिदेल को मारने के लिए सीआईए द्वारा बनाये गये 20 षड्यन्त्रों के दस्तावेजी सबूत मौजूद हैं जिनमें से सौभाग्यवश एक भी सफल नहीं हुआ। इस प्रक्रिया में मियामी ने दुनिया भर से अनेकानेक सुप्रशिक्षित, हथियारों से सुसज्जित हत्यारों को जुटाया। क्यूबा का गला घोंटने के लिए न केवल उस पर हमला किया गया बल्कि जितने तरह के षड्यन्त्रों की कल्पना की जा सकती है, सबको आजमाया गया।

अमरीकी विदेश मन्त्रालय में क्यूबा संक्रमण निदेशक के नाम से एक वरिष्ठ अधिकारी का पद है जिसका एक ही काम है, क्यूबा की सरकार को उखाड़ फेंकने की योजना बनाना।

अमरीकी संसद ने हाल ही में 890 लाख डॉलर केवल इसी काम के लिए आवण्टित किये हैं। इस कोष का एक भाग क्यूबा के अन्दर फिदेल विरोधी गुटों को खुलेआम बाँटा गया है।

निश्चय ही जब शीत यु) समाप्त हुआ और सोवियत संघ के पतन के चलते क्यूबा की अर्थव्यवस्था पूरी तरह संकटग्रस्त हो गयी तो अमरीका ने इसे सुनहरा मौका मानकर अपना प्रतिबन्ध कठोर कर दिया और आन्तरिक तोड़फोड़ की कार्रवाई भी काफी तेज कर दी।

1996 का हेल्मस-बर्टन बिल जिसके तहत सभी क्रूरतापूर्ण कारनामों को भारी पैमाने पर फैलाया गया था, उसे बिल

क्लिण्टन ने कानूनी रूप दे दिया।

2005 में फिदेल जिस वक्त लातिन अमरीकी जनता के लिए स्वास्थ्य और उनकी आँखों की रोशनी सुनिश्चित करने मे क्यूबा की भूमिका पर अपना प्रेरणास्पद भाषण दे रहे थे तभी सीआईए की राष्ट्रीय गुप्तचर परिषद ने क्यूबा को उन देशों की गुप्त सूची में शामिल किया था, जहाँ अमरीका निकट भविष्य में सैनिक हस्तक्षेप कर सकता है।

यह सूची अन्तहीन है और इस विषय पर कई खण्ड लिखे जा सकते हैं। इसी साम्राज्यवादी आँधी-तूफान के आगे फिदेल 50 वर्षों तक सर उठाकर खड़े रहे और उनकी नैतिक कल्पनाशीलता अटल रही। इस प्रक्रिया में वे 10 अमरीकी राष्ट्रपतियों, 23 अमरीकी सांसदों और कहने की बात नहीं कि असंख्य सीआईए प्रधानों को झेलकर भी जिन्दा रहे।

लातिन अमरीका में भी इस बीच असंख्य सरकारें और नेता, अलेन्दे से लेकर अरिस्टाइड तक, सान्दिनिस्ता से ह्यूगो शावेज तक मोरालेस से किर्चनर और लूला तक–छोटे बड़े हर देश में–लातिन अमरीकी क्रान्ति के इस महान बुजुर्ग की ओर अचरज भरी निगाहों से देखते रहे, भले ही इनमें से कुछ एक लोगों के अन्दर उनके पदचिह्नों पर चलने का दमखम नहीं है।

फ्रण्ट लाइन,
मार्च, 2008 से साभार

प्

संगठित लोग, न्यायकारी विचारों से लैस लोग

यह लातिन अमरीकी देशों का दायित्व है कि वे बिना एक क्षण गँवाये आपस में संगठित हों(अफ्रीकियों को भी यही करने की कोशिश करनी चाहिए। दक्षिण पूर्व एशिया में आसियान (ASEAN) हैं और वे एक नये आर्थिक एकीकरण की ओर मुखातिब हैं। यूरोप ने इसे द्रुत गति से कर दिखाया है। इस तरह विश्व में उसके कई हिस्सों में उप-प्रादेशिक गठबन्धान होंगे।द्ध1999ऋ

–फिदेल कास्त्रो

कुछ विश्लेषणों के अनुसार क्यूबा और वेनेजुएला लातिन अमरीका के संगठित होने की ओर एक बढ़ा हुआ कदम है, एक ऐसा क्षेत्र जो संयुक्त राज्य से अधिाक स्वतन्त्र है। वेनेजुएला मेरकोर (MERCOUR) में सम्मिलित हो चुका है। मेरकोर दक्षिण अमरीकी सीमाकर संगठन है, जिसे अर्जेंटीना के राष्ट्रपति नेस्टर क्रिचनर ने क्षेत्र के विकास में 'एक मील का पत्थर' माना है। ब्राजीली राष्ट्रपति लूला इनसियों डि सिल्वा ने इसका यह कहकर स्वागत किया कि 'यह हमारे एकीकरण की ओर एक नया अधयाय' है। स्वतन्त्र विश्लेषक कहते हैं कि वेनेजुएला के इस संघ में शामिल होने से मेरकोर के द्वारा प्रसारित भू-राजनीतिक दृष्टिकोण इस पूरे क्षेत्र द्धलातिन अमरीकाऋ में प्रसारित होगा। एक बैठक में वेनेजुएला के राष्ट्रपति ह्यूगो शावेज ने वेनेजुएला द्वारा मेरकोर में शामिल होने के बाद चिह्नित किया, 'हम इसे केवल एक आर्थिक परियोजना नहीं मान सकते, न ही यह स्वीकार करेंगे कि यह अभिजात्यों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों हेतु हो सकती है'। यह संयुक्त राज्य द्वारा प्रायोजित 'अमरीका हेतु मुक्त बाजार समझौता (FTAA) पर कोई अप्रत्यक्ष द्धनहीं, बल्कि सीधीऋ टिप्पणी थी, जिसका जनमत द्वारा बहुत सख्त विरोधा हो चुका है।' द्ध2006ऋ

–प्रो. नोम चोम्स्की

इस पूरे विश्व का दूसरा पक्ष लातिन अमरीका में हो रहे व्यापक आंदोलन हैं। वे न तो 'आतंकवादी' हैं, न ही विपत्तिकारक राज्य' हैं(इस तरह से वे किसी मनगढ़ंत द्धबहाने सेऋ हमले का निशाना भी नहीं है। साथ ही साथ वे साम्यवाद के प्रेत भी नहीं हैं। करोड़ों गरीब लोग समानता, न्याय और संपत्ति के पुनर्वितरण हेतु संघर्षरत हैं। यहाँ उस तरह का धाार्मिक सहस्त्राब्दवाद, संप्रदायवादी संघर्ष और जातीय विभाजन भी नहीं हैं जैसे कि मुस्लिम दुनिया में हैं। लेकिन वास्तविकता में द्धयहऋ नव-उदारवाद और साम्राज्यवाद के विरु) एवं वास्तविक सीधाा विद्रोह है। द्ध2007ऋ

–एजाज अहमद

नाभिकीय समझौता : हम्माम में सब नंगे

❑ संजय

देश-विदेश के पिछले अंकों में हम विस्तार से बता चुके हैं कि नाभिकीय समझौता किस तरह भारत को अमरीका की वैश्विक रणनीति–''लोकतन्त्र'' कायम करने की मुहिम, 'आतंकवाद के खिलाफ़ यु)', प्रसार सुरक्षा आदि समझौतों में बाँधता है, कैसे वह भारत को बाध्य करता है कि वह ईरान के खिलाफ़ अमरीकी मुहिम का हिस्सा बने तथा भारत को अमरीका के घरेलू कानून हाइड एक्ट के अधीन कर देता है।

संसदीय वामपंथ की ओर से इस समझौते के इन रणनीतिक पहलुओं को लेकर व्यक्त की गयी आशंकाओं और समझौते को रद्द करने के लिए डाले जा रहे दबाव के जवाब में सरकार और सत्ताधारी पार्टी काँग्रेस बार-बार कहती रही है कि उस पर भरोसा किया जाना चाहिए कि भारत की आजादी से कोई समझौता नहीं किया जायेगा। दूसरी ओर प्रमुख विपक्षी पार्टी भाजपा भी समझौते के विरोधा में बयान देती रही है। लेकिन समझौते को लेकर चल रही खींचतान में भाजपा के इस विरोध का असली चरित्र भी सामने आ गया है।

यहाँ हम सिर्फ कुछ नये तथ्यों को पाठकों के सामने रख रहे हैं जो भारतीय शासक वर्ग की असली नीयत को बेनकाब कर देते हैं–

- संसद में पूर्व विदेश मन्त्रियों दिग्विजय सिंह और नटवर सिंह ने एक संयुक्त वक्तव्य में इस समझौते को लेकर सवाल उठाये। उन्होंने यहाँ तक कहा कि अमरीका के साथ मनमोहन सिंह द्वारा किया गया जुलाई फ्रेमवर्क समझौता जो भारतीय विदेश नीति पर दूरगामी प्रभाव डालने वाला था, तत्कालीन विदेश मन्त्री नटवर सिंह से बात किये बिना ही कर लिया गया।
  जो सरकार अपने विदेश मन्त्री से तथ्यों को छिपा रही है क्या वह देश की जनता को सच्चाई बतायेगी?
- अमरीका की ओर से बहुत सारे राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ भारत पर दबाव डालने के लिए भेजे गये। उन्होंने साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति अपनाते हुए भारत के भीतर समझौते का विरोध कर रहे पक्ष का मुँह बन्द करने की कोशिश की। एक ओर बंगाल की वामपंथी सरकार को भारी निवेश का लालच दिया गया तथा भारत को अरबों रुपये के हथियार और लड़ाकू विमान बेचने की पेशकश की गयी।
  दूसरी ओर यह चेतावनी भी दी गयी कि यह अन्तिम मौका है कि उसे अपने मतभेद दूर करके आगे बढ़ाना चाहिए, कि इसके लिए बस दिसम्बर तक का समय है।
  अमरीकी दबाव इतना साफ़ था कि भारतीय वामपंथी पार्टियों ने इसे ''आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप'' की संज्ञा दी।
- इसी अभियान के तहत भारत आये अमरीका के पूर्व उप गृहमन्त्री स्ट्रीब टालबोट ने यह खुलासा किया कि आज इस समझौते के बदले अमरीका भारत को जितना देने को तैयार है, वाजपेयी सरकार को उसका ''आधा'' भी दिया गया होता तो वह समझौता कर लेती। टालबोट का यह बयान विपक्षी भाजपा द्वारा इस समझौते के छद्म विरोध का पर्दाफाश कर देता है। जाहिर है कि भाजपा को बस इतनी शिकायत है कि हमारे रहते समझौता क्यों नहीं किया गया? उनको अपनी कादारी साबित करने का मौका क्यों नहीं दिया गया?
- अमरीका को खुश करने के लिए राजदूत रोनन सेन का कार्यकाल फ़िर से बढ़ा दिया गया है जिसने नाभिकीय समझौते का विरोध करने वालों को उद्दंडतापूर्वक ''सिर कटे मुर्गे'' कहा था।

अमरीका ने इस फैसले पर खुशी जाहिर की है।

- भारत के ईरान–पाकिस्तान–भारत गैस पाइप लाइन की वार्ताओं में शामिल नहीं होने के चलते यह समझौता खटाई में पड़ गया है। अमरीका भारत सरकार को सीधे निर्देश दे रहा है कि वह ईरान से दूर रहे। ईरान से रिश्ते को लेकर भी भारत सरकार दुविधाग्रस्त है और दोनों नावों में सवारी करने की कोशिश में अपनी और देश की दुर्गति करवा रही है।
- हाल ही में प्रणव मुखर्जी की अमरीका यात्रा के दौरान अमरीका ने एक बार फिर साफ कर दिया है कि नाभिकीय समझौता प्रावधान उसके लिए बाध्यकारी नहीं है। और नाभिकीय समझौते को लागू करते समय अमरीका के ''घरेलू कानून'' को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

इसके पहले अमरीकी काँग्रेस की एक समिति के समक्ष कोण्डालीसा राइस ने कहा था कि भारत के मामले में अमरीका नाभिकीय आपूर्तिकर्ता समूह के समक्ष ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं पेश करेगा जो हाइड एक्ट के खिलाफ जाता हो।

इससे भारतीय शासकों के इस झूठ का पर्दाफाश हो जाता है कि भारत सिर्फ नाभिकीय समझौते के पालन के लिए बाध्य है, हाइड एक्ट के पालन के लिए नहीं और यह कि भारत की आजादी सुरक्षित रहेगी।

लेकिन सरकार अब भी समझौते की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की बात कर रही है। क्या इस सरकार पर और उसके मन्त्रियों या विपक्षी नेताओं के बयानों पर भरोसा किया जा सकता है?

भारत के नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक का मानना है कि अमरीका को खुश करने के लिए भारत सरकार ने अमरीका का जर्जर यु)पोत यू एस एस ट्रेण्टन बिना उसकी स्थिति का ''आकलन'' किये खरीद लिया। इस रिपोर्ट में भारत सरकार को ''परेशानी में डालने वाला यह सवाल'' भी उठाया गया है कि ''यह जहाज क्यों खरीदा गया जो 1971 में अपनी आयु पूरी कर चुका था और जिसके बारे में 2003 में खुद अमरीका की नौसेना यह तय कर चुकी थी कि यह मरम्मत करके सुधारा नहीं जा सकता और इसका आधुनिकीकरण करने के बजाय नौसेना को इसे 2006 में त्याग देना चाहिए।'' जहाज में गैस लीक होने से भारत के 6 नाविक मारे गये। क्या सरकार को इस बात की जानकारी नहीं थी कि ''इस श्रेणी के पुराने जहाजों में अतीत में इस तरह की समस्याएँ आती रही हैं और इसके पहले तीन अमरीकी भी इसी तरह की एक दुर्घटना में मारे गये थे।''

इस जहाज को 5 करोड़ डॉलर में खरीदा गया जबकि 3 करोड़ 70 लाख रुपया इसकी मरम्मत पर ही खर्च करना पड़ा। इसके अलावा अमरीका द्वारा लगायी गयी गैरबराबरी पूर्ण शर्तें भी मान ली गयीं जिनके मुताबिक ''उसके आक्रमण के लिए इस्तेमाल पर प्रतिबन्ध स्वीकार कर लिये गये हैं और अमरीका को जहाज का निरीक्षण करने और जहाज पर मौजूद सभी हस्तान्तरित उपकरणों के अन्तिम इस्तेमाल का लेखा–जोखा रखने और उसकी निगरानी करने की अनुमति दे दी गयी है।''

इस सौदे में देश का कौन सा हित साधा गया?

जाहिर है कि भारत सरकार अरबों रुपये लुटाकर देश को अमरीका का कूड़ेदान बना रही है।

ऊपर दिये गये तथ्यों से स्पष्ट है कि भारतीय शासक वर्ग के बीच न सिर्फ वाशिंगटन की नीतियों और आर्थिक सुधारों को लेकर एक राय बन चुकी है बल्कि वह विदेश नीति को अमरीका की विश्व रणनीति का दुमछल्ला बना देने को आतुर है। भारत अमरीका–नाभिकीय समझौता इस दिशा में उठाया गया सबसे घातक कदम है।

अमरीका अपने हितों और साम्राज्यवादी मन्सूबों के साथ कोई समझौता करने और नाभिकीय समझौते के एवज में अपने किसी हित को छोड़ने को तैयार नहीं है। लेकिन भारत सरकार और भारत की प्रमुख संसदीय पार्टियाँ भाजपा–काँग्रेस देश के हितों की परवाह न करके देश को अमरीका की साम्राज्यवादी वैश्विक रणनीति का अंग बनाने पर आमादा हैं। उनके इन प्रयासों में भारतीय वामपन्थ ही थोड़ी बाधा डाल रहा है। जिससे निपटने के लिए तरह–तरह के हथकण्डे अपनाये जा रहे हैं।

एक देशव्यापी जनाधार और क्रान्तिकारी कार्यनीति के अभाव में भारतीय संसदीय वामपन्थ इस विरोध को बहुत दूर तक नहीं ले जा सकता। इसे रोकने के लिए क्रान्तिकारी और जनपक्षधर बु)जीवियों को देश की जनता के सहयोग से एक दूरगामी रणनीति पर विचार करना होगा जो न सिर्फ विदेशनीति के मामले में बल्कि आर्थिक–राजनीतिक–सामाजिक–सांस्कृतिक हर तरह से वर्तमान नीतियों से विच्छेद करके देश को एक नयी दिशा देने का विकल्प प्रस्तुत करे। q

आसमान छूती महँगाई और जनविरोधी सरकारी नीतियाँ

❑ नवनीत

बढ़ती महँगाई से बाजार का तापमान ऊँचा है इसकी गर्मी से सत्ता पक्ष और विपक्ष भी तिलमिलाए हुए हैं। सरकार ने किसानों को रिझाने के लिये 60,000 करोड़ रुपये की सहायता राशि दी, असंगठित क्षेत्र के लोगों को भी रेवड़ी बाँटी, दलित आदिवासी तथा मुस्लिम अल्पसंख्यकों की तरु भी चन्द सिक्के उछाले गये, मध्यम वर्ग को रिझाने के लिए टैक्स में छूट दी गई तथा छठे वेतन आयोग की सिफारिशें लागू करने की तरु कुछ कदम बढ़ाये गये।

सरकार द्वारा जनता पर की गयी इस मेहरबानी को मई 2009 में होने वाले आम चुनाव की तैयारी के रूप में समझा जा रहा है। सरकार द्वारा विभिन्न तबको को रिझाने की इन सारी कार्रवाईयों को यदि तराजू के एक पलड़े में रखें और महँगाईको दूसरे पलड़े में रखें तो निश्चित तौर पर महँगाई कहीं भारी पड़ेगी।

खाद्यान्न संकट : देश की खाद्य सुरक्षा खतरे में

अखिल भारतीय व्यापारी महासंघ के सचिव का मानना है कि अनाज की बढ़ती कीमतों का सीधा सम्बन्ध घरेलू बाजार को अन्तरराष्ट्रीय बाजार से जोड़ने तथा खाद्यान्न के व्यापार में बड़े औद्योगिक घरानों की घुसपैठ से है। अनाज की महँगाई और मौजूदा खाद्य संकट बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और बड़े औद्योगिक घरानों की करतूत है। बाजार पर अपना वर्चस्व कायम करने के लिए वे भारी पैमाने पर खाद्य पदार्थों की जमाखोरी करते हैं। जिससे बाजार में खाद्य पदार्थों का कृत्रिम अभाव उत्पन्न हो जाता है। बाजार पर अपने एकाधिकार के चलते ये कम्पनियाँ माल की मनचाही कीमत निर्धारित करने के लिए स्वतन्त्र हो जाती हैं।

महँगाई की मार से कोई जिन्स बचा नहीं रह गया है। खाद्यान्न, तिलहन, रबड़, तेल, स्टील और सीमेन्ट सहित सभी लोग महँगाई की मार जरूरी सामानों में झेल रहे हैं। मगर खासकर जिन्दा रहने की जरूरी सामानों जैसे खाद्य-पदार्थों की कीमतों में बेतहाशा वृ) के लिए सीधे-सीधे सरकारी नीतियाँ ही जिम्मेदार हैं।

खाद्य सुरक्षा का संकट तो उसी दिन तय हो गया था जब सरकार ने खाद्य सुरक्षा से मुँह ेरकर एफ॰ सी॰ आई॰ को चरणब) तरीके से खत्म करना शुरू कर दिया था। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तहत घटिया दर्जे का ही सही आम आदमी के जिन्दा रहने भर का सस्ता अनाज तो मिल ही जाता था। मगर अब सरकार ने आम आदमी के आगे बिखेरे जाने वाले अनाज के चन्द दाने भी समेटकर अरबपतियों के गोदामों में पहुँचा दिया है। केरल, जहाँ की सार्वजनिक वितरण प्रणाली से अब तक जनता का पेट भरता रहता था, केन्द्र सरकार ने वहाँ भी खाद्य आपूर्ति कोटे को 80 ीसदी तक कम कर दिया है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली के चलते खाद्य आपूर्ति कफी हद तक सुनिश्चित रहती थी तथा स्थानीय जमाखोरों तथा बड़ी कम्पनियों का बाजार पर असर कफी कम होता था लेकिन अब देश के अनाज व्यापार को चन्द मुनाफाखोरों की तिजोरी भरने का आसान और सुगम रास्ता बना दिया गया है। भारत की खाद्य सुरक्षा का प्रतीक एफ॰ सी॰ आई॰ भी देशी-विदेशी बड़ी कम्पनियों की भेंट चढ़ रहा है। सरकारी गोदामों में अनुमानित साढ़े तीन करोड़ टन अनाज का सुरक्षित भण्डार होना चाहिए ताकि निरन्तर आपूर्ति में बाधा न पड़े और संकट के समय यह अनाज काम आये लेकिन 31 जनवरी 2008 तक यह मात्रा घटकर केवल एक करोड़ टन ही रह गयी। इसका कारण पिछले वर्ष अनाज की खरीद में सरकार की जान-बूझकर कोताही और निजी अनाज व्यापारी कम्पनियों को बढ़ावा देना है। एफ॰ सी॰ आई॰ द्वारा 2001-02 में कुल कृषि उपज का 30 ीसदी खरीदा गया था, जो 2006-07 में घटकर 15 ीसदी ही रह गया है।

2006-07 में सरकार ने किसानों का गेहूँ 850 रुपये प्रति क्विण्टल की दर से खरीदा जबकि बाजार भाव उस समय 10-12 रुपये प्रति किलो था। यहाँ के किसानों से गेहूँ न खरीदकर सरकार ने विदेशों से महँगा और घटिया गेहूँ खरीदा। फिर तो देश में महँगाई बढ़नी ही थी। साथ ही देशी-विदेशी कम्पनियों ने किसानों से गेहूँ खरीदकर अपने गोदामों में भर लिया जिसने महँगाई को और बढ़ा दिया।

आयात को बढ़ावा देने का नुस्खा

बड़े पूँजीपतियों की संस्था फिक्की ने कीमतों के नियन्त्रण का नायाब नुस्खा पेश किया जिसके तहत जरूरी वस्तुओं का आयात करना और उस पर सब्सिडी देना। खेती में उत्पादन को बढ़ाना और कृषि व्यापार के रास्ते की बाधाओं को दूर करना। बीमारी के इलाज के लिए मौत के सौदागरों द्वारा सुझाई गयी दवाएँ जहर से भी खतरनाक हैं। जो समस्या का कारण है वे उसे ही समाधान के रूप में पेश कर रहे हैं।

सरकार हमारे देश में उत्पादित कृषि उपज की पूरी कीमत तो देती नहीं। अब जब विदेशों से महँगे सामान खरीदेगी तो यहाँ के उत्पादक, किसानों का माल तो सड़ेगा लेकिन विदेशी मालामाल होंगे।

यह नुस्खा कोई नया भी नहीं। पिछले वर्ष सरकार ने किसानों को दिये गये भाव से दुगुनी कीमत पर गेहूँ का आयात किया। अभी हाल ही में उसने लाखों टन खाद्य तेल के आयात का टेण्डर जारी किया है। खेती के पुनरुत्थान के लिए वे किसानों को सब्सिडी, मु"त बिजली, सस्ते या मु"त सरकारी कर्ज, सस्ते कृषि उपकरण, बीज, खाद इत्यादि तथा फसल की उचित कीमत देने की बात भला क्यों करेंगे। वे तो यही चाहते हैं कि देश की खेती पर बड़ी-बड़ी कम्पनियों का साईन बोर्ड टाँग दिया जाये।

विदेशों से भारी मात्रा में खाद्यान्नों का आयात करने से महँगाई कम हो यह कोई जरूरी नहीं। इस महँगाई का सामान की उपलब्धाता से भी कोई वास्ता नहीं। महँगाई तो सटेबाज और इजारेदार कम्पनियों द्वारा बढ़ायी गयी कीमतों का नतीजा है। लेकिन महँगाई के बहाने भी सरकार आयात को बढ़ावा देकर देशी-विदेशी कम्पनियों का ही कल्याण कर रही है। सरकार ने पिछले कई वर्षों से लगातार आयात शुल्क में कमी की है। इसका सीधा असर हमारे किसानों पर पड़ा है। विकसित देशों में किसानों को भारी सब्सिडी मिलने के चलते वहाँ खेती की लागत कम है। लेकिन हमारे देश में खाद, बिजली, पानी महँगा होने के चलते ज्यादा आती है। अब से पहले यदि विदेशियों को हमारे देश में अपना माल बेचना होता था तो उन्हें समुचित आयात शुल्क देना पड़ता था, इसके चलते हमारे यहाँ के उत्पादक उनके सामने टिके रह सकते थे। लेकिन अब सस्ते विदेशी माल के सामने टिके रहना मुश्किल ही नहीं, असम्भव है।

साम्राज्यवादी चाहते हैं कि भारत के कृषि उत्पादन को तहस-नहस करके यहाँ के स्थानीय बाजार पर अपना कब्जा जमा लें। आयात शुल्क में भारी कमी के चलते विदेशों से खाद्य तेल मुख्यत: पामोलिन तेल काफी मात्रा में आयात किया गया जिसके चलते यहाँ तेल का भाव अचानक बहुत कम हो गया। मजबूरी में किसानों ने तिलहन सरसों, मूँगफली नारियल इत्यादि की खेती कम कर दी। इसी कमी के चलते खाद्य तेलों की कीमतें बेतहाशा बढ़ती गयी हैं और इस कमी का रोना रोते हुए सरकार खाद्य तेलों का आयात कर रही है और इस तरह **''आयात-संकट-आयात''** का दुष्चक्र पूरा हो गया।

मुद्रास्फीति बेलगाम

वर्ष 2008 की शुरुआत में कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह आशंका जताई थी कि 2008 के अन्त तक मुद्रास्फीति 6.8 फीसदी तक पहुँच जायेगी। लेकिन तीन महीने भी नहीं बीते थे उनके अनुमान से भी तेज छलाँग लगाते हुए, मार्च के मध्य में मुद्रा स्फीति 4 फीसदी से बढ़कर 7 फीसदी हो गयी। इसके रुकने के कोई आसार भी नजर नहीं आ रहे हैं। इसका सबसे ज्यादा असर रोजमर्रा की जरूरतों के सामानों पर हुआ है। दूध से बने सामानों पर 9.28 फीसदी, खाद्य तेल 19.03 फीसदी, तिलहन 20.12 फीसदी तथा लोहा और इस्पात 26.86 फीसदी महँगे हुए हैं। ये सभी आँकड़े थोक भाव के हैं।

हमारी सरकार आँकड़ों की बाजीगिरी में खूब माहिर है, यह मुद्रास्फीति की जो दर जनता को बताती है उसकी गणना थोक मूल्य के आधार पर की जाती है। जबकि थोक मूल्य में थोड़ी भी वृ) का असर खुदरा मूल्य पर काफी ज्यादा होता है। इसीलिए दूसरे कई देशों में उपभोक्ता मूल्य के आधार पर ही मुद्रास्फीति की गणना की जाती है। उदाहरण के लिए जब चावल का थोक भाव 7.88 फीसदी बढ़ता है तो खुदरा भाव 20.86 फीसदी बढ़ जाता है। इसी तरह वनस्पति तेल का थोक भाव 8 फीसदी बढ़ जाये तो उसके खुदरा मूल्य में 22 फीसदी की बढ़ोत्तरी हो जाती है।

अन्तरराष्ट्रीय बाजारों से जुड़ने का नतीजा

वैश्वीकरण के चलते भारतीय बाजारों को दुनिया के बाजारों से नत्थी कर दिया गया। इसीलिए अब अन्तरराष्ट्रीय बाजारों के उतार-चढ़ाव का सीधा असर भारतीय बाजारों पर होता है। उदाहरण के लिए चीन में लोहे व इस्पात की खपत बढ़ने के चलते, जब से उसकी माँग बढ़ी है, तब से भारतीय कम्पनियों ने चीन को कच्चा लोहा तथा इस्पात बेचना शुरू कर दिया। इससे भारतीय बाजारों में लोहे की कमी हुई है तथा स्टील के दामों में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है। चीन की कम्पनियाँ तो इस्पात को कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल करके उससे तरह-तरह के औद्योगिक माल तैयार करती है और भारी मुनाफा कमाती हैं। लेकिन भारतीयों के लिए हर चीज जिसमें लोहे का इस्तेमाल होता है, वह उनकी पहुँच से दूर होती जा रही है। अन्तरराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपना वर्चस्व कायम करने के लिए ज्यादा से ज्यादा जमाखोरी करती हैं तथा सरकारी नीतियों को प्रभावित करके सरकारी भण्डारण और नियन्त्रण को कम करती हैं और फिर मनचाही कीमत तय करके महँगाई बढ़ाती हैं।

महँगाई की मार सिर्फ भारत ही नहीं, पूरा विश्व झेल रहा है। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर खाद्यान्न के दाम तेजी से बढ़ रहे हैं। ब्याज दर कम होने के चलते वहाँ के सटेबाज अनाज के व्यापार में सटेबाजी करके कीमतें बढ़ा रहे हैं और बेहिसाब मुनाफा बटोर रहे हैं।

सरकार ने जब से निर्यात पर से रोक हटा दी है तब से भारी मात्रा में कच्चा माल व खाद्यान्न विदेशों में जाने लगा है तथा उसी कच्चे माल से महँगा सामान बनाकर भारतीय बाजारों में बेचा जा रहा है। इससे महँगाई तो बढ़ ही रही है, उत्पादक इकाईयों के बन्द होने से रोजी-रोटी भी छिन रही है।

देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हित में बनने वाली नीतियों से हमारे देश के आम मेहनतकश लोगों का सबसे ज्यादा नुकसान हो रहा है। दौड़ती कीमतों तक अपनी पहुँच बनाने के लिए एक रिक्शा वाला और तेजी से रिक्शा दौड़ाकर कम समय में ज्यादा चक्कर लगाकर, ज्यादा घण्टे रिक्शा चलाकर अपने परिवार को जिन्दा रखने की नाकाम कोशिश में लगा हुआ है। लोग ओवरटाइम करने, दो-दो नौकरी करने और फिर भी अपनी जरूरतों में कटौती करने के लिए मजबूर हैं।

महाभारत के पूर्वा) की तरह हर जगह अन्याय और चीरहरण के दृश्य सामने आ रहे हैं जबकि देश के शासक धृतराष्ट्र बनकर बीच-बीच में सिर्फ इतना ही बोल पड़ते हैं कि ''अरे ये क्या हो रहा है?'' लेकिन महाभारत के धृतराष्ट्र और आज के धृतराष्ट्रों में एक फर्क है-महाभारत का धृतराष्ट्र तो जन्मजात अन्धा था लेकिन आज के इन धृतराष्ट्रों ने देशी-विदेशी सरमायादारों के इशारे पर अपनी आँखों पर पटी बाँध ली है।

ऐसी स्थिति में महाभारत के उत्तरा) को कोई महारथी भला कब तक टाल सकता है? यु) तो लाजिमी है, कोई चाहे या न चाहे। ❑

नेपाल : संघीय लोकतान्त्रिाक गणराज्य की ओर

❑ बुद्धेश

नेपाल आज पूरी दुनिया के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। संविधान सभा के लिए 10 अप्रैल 2008 को हुआ चुनाव कई मामलों में अनोखा है। दुनिया में कहीं भी संविधान सभा के लिए इतने अधिक सदस्य नहीं चुने गये। न तो लोकतन्त्र के स्वयंभू ठेकेदार अमरीका में और न ही दुनिया के 'सबसे बड़े लोकतन्त्र' भारत में। उमंग, उत्साह और भविष्य की उम्मीद लिये नेपाली जनता का ऐतिहासिक कदम है, संविधान सभा का चुनाव।

नेपाल में 601 सदस्यीय नयी संविधान सभा बनने जा रही है जिसमें 240 सदस्य प्रत्यक्ष रूप से और 335 सदस्य आनुपातिक प्रतिनिधित्व के तहत निर्वाचित होंगे। 26 सदस्यों को मन्त्रीमण्डल मनोनीत करेगा।

संविधान सभा के इस चुनाव में माओवादी क्रान्तिकारियों को भारी स्फलता मिली है। ऐसी स्फलता की उम्मीद राजतन्त्र समर्थकों, नेपाली काँग्रेस और नेकपा एमाले को भी नहीं थी। यहाँ तक कि भारतीय राज्य भी माओवादियों को तीसरे नम्बर पर ही मानकर चल रहा था। अब तक प्राप्त समाचारों के मुताबिक द्ध18 अप्रैल 2008ऋ प्रत्यक्ष रूप से हुए चुनाव में माओवादी 119 सीटें जीत कर बहुमत के करीब पहुँच चुके हैं तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के चुनाव में भी बढ़त बनाये हुए हैं। जबकि दोनों पुरानी प्रतिद्वन्द्वी संसदीय पार्टियाँ–काँग्रेस और एमाले–क्रमशः पीछे हैं। हाँ! तराई में उपेन्द्र यादव के नेतृत्व वाला म)ेशी जनाधिकार फोरम 20 से अधिक सीटें जीत कर स्थानीय ताकत के रूप में उभरा है।

माओवादी पार्टी के अध्यक्ष प्रचण्ड ने घोषणा की है कि हम चुनाव पूर्व सात-पार्टी गठबन्धन को चुनाव के बाद भी बनाये रखना चाहते हैं। नेपाली काँग्रेस और नेकपा एमाले ने शुरुआती ना-नुकुर दिखायी है जबकि म)ेशी जनाधिकार फोरम ने उन्हें सशर्त समर्थन देने की बात कही है।

संविधान सभा के चुनाव के पर्यवेक्षण के लिए आये अन्तरराष्ट्रीय पर्यवेक्षकों के नेता के रूप में स्वीकार्य अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने इस चुनाव की तारीफ करते हुए, इसे लोकतन्त्र के मानदण्डों के अनुरूप बताया। उन्होंने कहा कि, ''अमरीका को मान लेना चाहिए कि माओवादी वैद्य राजनीतिक ताकत है।'' जापान की संसदीय टोली ने इसे 'स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचन' कहा तो यूरोपीय देशों के पर्यवेक्षकों के नेता जॉन मुल्डर ने भी स्वीकार किया कि, ''चुनाव भयमुक्त वातावरण में हुआ है।'' दुनिया भर से आये लगभग 1500 पर्यवेक्षकों ने भी इस चुनाव को साफ-सुथरा घोषित किया है। भारत ने भी आधिकारिक रूप से चुनाव की प्रशंसा की है।

भारत-नेपाल मैत्री समूह के अध्यक्ष और जनता दल यूनाईटेड के अध्यक्ष शरद यादव ने इस चुनाव की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए, माओवादियों को बधाई दी है। पूर्व विदेश सचिव मुचकुन्द दूबे ने इसे भारत के लिए खुशी का एक मौका बताया है।

इस चुनाव से कौन खुश है?

नेपाल में हुए संविधान सभा के इस चुनाव और माओवादियों के एक प्रमुख ताकत के रूप में उभरने से दो तरह के लोग खुश हैं। पहले वे, जो नेपाल में आमूल-चूल परिवर्तन की उम्मीद करते हैं और जिन्हें माओवादी पार्टी की क्रान्तिकारिता में यकीन है। वे लोग चाहते हैं कि माओवादी नेपाल को सामंतशाही के चंगुल से मुक्त करायें और एक नये नेपाल के निर्माण में जनता का नेतृत्व करें। दूसरे वे लोग हैं जो यह मानते हैं कि ''समावेशी प्रजातन्त्र के लिए इतनी दूरी तय करने के बाद माओवादियों के लिए सशस्त्र क्रान्ति की स्थिति में वापस जाना कफी कठिन होगा। प्रजातन्त्र का आलिंगन उनके लिए एक बाघ पर सवार होने के बराबर हो गया है। इस सवारी पर चलते रहने में ही सुरक्षा है। अगर कोई अन्य हरकत हुई तो बाघ सवारी को अपना शिकार बना सकता है।'' इन लोगों का मानना है कि माओवादी अब अगले चुनाव के लिए चुनावी राजनीति की मुख्य धारा में और गहराई तक उतरेंगे। इन्हें उम्मीद है कि नेपाल लोकतान्त्रिक गणराज्य तो बनेगा मगर भूमि-सुधार व अन्य क्रान्तिकारी पहलकदमी से बचा रहेगा और धीरे-धीरे पूँजीवाद के रास्ते पर आगे बढ़ेगा।

...और किसे है परेशानी!

प्रतिक्रियावादी, राजतन्त्रवादी, सामंतवादी, लम्पट-सर्वहारा, असामाजिक तत्व, धार्मिक पुनरुत्थानवादी पार्टियाँ व लोग इस चुनाव से आहत हुए हैं। ये लोग नेपाली काँग्रेस और नेकपा एमाले के बाद माओवादी पार्टी को तीसरे नम्बर पर रखे हुए थे। यहाँ तक कि भारतीय खुफिया-तन्त्र ने भारतीय विदेश मन्त्रालय के सामने यही आकलन प्रस्तुत किया था जिसके आधार पर सुरक्षा सलाहकार ने गिरिजा प्रसाद कोइराला को अग्रिम बधाई भी दे दी थी। नेपाल की जनता ने इन सबके आकलनों और उम्मीदों पर पानी फेर दिया। वे चकित हैं तथा हताशा और बदहवासी में चिल्ल-पों मचा रहे हैं। भारत की एक हिन्दुवादी-राजतन्त्रवादी-धार्मिक पुनरुत्थानवादी पार्टी, उसके नेता और कुछ सामंती सोच से ग्रसित बु(जीवियों ने चीख-पुकार मचाते हुए कहा है कि यह चुनाव माओवादियों की दादागिरी के लिए याद किया जाना चाहिए। सैकड़ों अन्तरराष्ट्रीय पर्यवेक्षकों और प्रत्यक्षदर्शियों की बातों को दर-किनार करते हुए, ये इस झूठ का प्रचार कर रहे हैं कि माओवादी, जोर-जबर्दस्ती और बूथ-कैप्चरिंग से ही बहुमत में आ पाये हैं। अभी खबर आयी है कि नेपाली काँग्रेस पार्टी ने भी शिकायत की है कि माओवादियों ने लोगों को डरा-धमकाकर और आतंकित करके वोट बटोरे हैं। हालाँकि गिरिजा प्रसाद कोइराला ने अपनी पीठ ठोकते हुए कहा है कि इतना निष्पक्ष और स्वतन्त्र चुनाव शायद ही कभी हुआ हो।

माओवादियों की जीत के मायने क्या हैं?

भारत के एक पूर्व राजनयिक के शब्दों में, ''नेपाल की जनता परिवर्तन चाहती है।'' इस चुनाव का अर्थ है कि नेपाली जनता अपनी समस्याओं का अन्त चाहती है। राजतन्त्र को खत्म करना चाहती है और सामंतवाद को जड़ से मिटाना चाहती है। वह क्रान्तिकारी भूमि-सुधार चाहती है, जातियों का शोषण-उत्पीड़न समाप्त करना चाहती है। नेपाली जनता ने एक नये नेपाल के निर्माण के लिए नये विचार और नये विजन के साथ अपना नया नेतृत्व चुना है। इस चुनाव का सन्देश बिल्कुल साफ है–''इन्सानी गरिमा से युक्त एक नया नेपाल बनाया जाये।''

माओवादी कौन हैं और इन्हें जीत कैसे मिली?

क्या माओवादियों ने डरा-धमकाकर, आतंकित कर वोट लिये या जनता ने स्वेच्छापूर्वक उन्हें अपनी सर-आँखों पर बिठाया है?

विविधताओं से भरपूर लगभग पौने तीन करोड़ की आबादी और विभिन्न जातियों, जनजातियों वाला नेपाल अपने प्रचुर प्राकृतिक संसाधनों के बावजूद दुनिया में एक गरीब देश के रूप में जाना जाता है। थारू, राई, मगर, नेवार, लिंबू, भूटिया, गोरखा आदि जातियों और जनजातियों वाला यह देश चारों तरु से चीन और भारत से घिरा हुआ है। ऐतिहासिक सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से नेपाल भारत और चीन दोनों के करीब है। अपने अस्तित्व में आने के बाद से ही 'शाहों' और 'राणाओं' के उत्पीड़न-दमन से कराहता नेपाल इनके ''शैतानी चंगुल'' से आजाद होने के लिए लगातार संघर्ष करता रहा है। 1949 में कम्युनिस्ट पार्टी बनाकर नेपाली जनता ने इस संघर्ष को वैज्ञानिक रूप देने और ऊँचे स्तर पर पहुँचाने की कोशिश की। इस संघर्ष में नेपाली जनता ने असंख्य कुर्बानियाँ दी हैं और अकथनीय कष्ट सहे हैं। 1990 में सीमित लोकतन्त्र बहाली के बाद शासन सम्भालने वाली पार्टियों ने जनता को कफी ठगा, उसे धोखा दिया और उसकी पीठ में छुरा घोंपा।

नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवादी होकर प्रतिक्रियावादियों से जा मिलने के बाद इसके एक हिस्से ने नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी माओवादी के नाम से 1994-96 में 'जन यु)' की शुरुआत की। उसने एक 40 सूत्रीय माँग पत्र पेश किया जिसमें 1990 के सीमित लोकतन्त्र की असफलता को चिह्नित करते हुए, राजशाही की समाप्ति और गणराज्य की स्थापना, अन्तरिम सरकार और अन्तरिम संविधान तथा नये संविधान के लिए संविधान सभा के चुनाव की माँग प्रमुख थी।

इस प्रकार माओवादियों ने 'जन यु)' को यु)वार्ता जनान्दोलन और कूटनीति के जरिये नेपाल के लिए सर्वव्यापी बनाया।

संविधान सभा के चुनाव में एक बड़ी ताकत के रूप में उभरने से पहले माओवादी क्रान्तिकारियों ने 1994 से 2008 तक जन यु), वार्ताएँ, जनान्दोलन और चुनाव में भागीदारी की यात्रा पूरी की। जिसके लिए उन्हें अपने अनेकों नेताओं व ढेरों होनहार कार्यकर्ताओं सहित हजारों समर्थकों की कुर्बानी देनी पड़ी है।

जब पूरी दुनिया में 'मार्क्सवाद मर गया' और ''समाजवाद का अन्त हो गया'' की घोषणाएँ करते हुए साम्राज्यवादी

और उनके पक्षधर बु)जीवी दावतों में मशगूल थे, नेपाली जनता का एक हिस्सा माओवादी नाम से 'समाजवाद' लाने के लिए जमीनी संघर्ष छेड़े हुआ था। यही माओवादी आज संविधान सभा के चुनाव में प्रमुख ताकत बनकर उभरे हैं।

संघीय लोकतान्त्रिाक गणराज्य

चुनाव परिणाम आने के साथ ही माओवादी पार्टी ने राजतन्त्र के खात्मे की अपनी वचनब)ता दोहराई है। माओवादी पार्टी चाहती है कि नेपाल को 14 स्वायत्त प्रान्तों में बाँटा जाये और महिलाओं, दलितों और जनजातियों को सरकार में उचित प्रतिनिधित्व दिया जाये। द्धमाओवादियों ने अपनी पार्टी की ओर से 42 महिला प्रत्याशियों को चुनाव में उतारा था प्राप्त खबरों के अनुसार इनमें से 23 महिला उम्मीदवार चुनाव जीत गयी हैं।ऋ

चुनाव में माओवादियों की जीत से घबराकर भारत ने नेपाल जाने वाली आवश्यक वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। खाद्यान्न, ¬ल, दालें, तेल, आलू, प्याज के साथ हार्डवेयर और सीमेन्ट आदि पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया है। आम नागरिक जरूरी सामानों के लिए तरस रहे हैं और सामानों की कीमत बेतहाशा बढ़ती जा रही है।

भारत सरकार, सुरक्षा एजेन्सियों और राजनीतिक पार्टियों के भीतर एक वर्ग ऐसा है जो माओवादियों के चुनाव जीतने से आशंकित है।

नेपाल में राजतन्त्र समर्थक नेता और सैन्य अधिकारी खुलेआम गृह यु) की चेतावनी दे रहे हैं। नेपाली काँग्रेस और नेकपा एमाले भी माओवादियों के विरोध में ही खड़ी दिखायी दे रही हैं। म)शी पार्टियाँ भी मैदान में आ गयी हैं जिन्हें भारत के सामंती और प्रतिक्रियावादी तत्वों से सहायता मिल रही है।

राजतन्त्र का खात्मा और संघीय लोकतान्त्रिक गणराज्य की स्थापना के रूप में माओवादियों को पहली बड़ी जीत मिली है। नेपाल में, आने वाले दिनों में वर्ग-संघर्ष अपने ऊान पर होगा।

चुनौती कड़ी है। राह कठिन है। लेकिन नेपाली जनता और उसके क्रान्तिकारी नेतृत्व को आगे बढ़ना ही होगा, आगे बढ़ते जाना ही होगा। क्योंकि स्र्फि राजतन्त्र के खात्में भर से ही नया नेपाल निर्मित नहीं होगा। द्ध18 अप्रैल 2008ऋ

क्रान्ति करना बहुत कठिन काम है। यह किसी एक आदमी की ताकत की वश की बात नहीं है और न ही यह किसी निश्चित तारीख को आ सकती है। यह तो विशेष सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से पैदा होती है...क्रान्ति के दुस्साध्य कार्य के लिए सभी शक्तियों को संगठित करना होता है। इस सबके लिए क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को अनेक कुर्बानियाँ देनी होती हैं।

—भगत सिंह द्वारा ग़ाँसी
पर चढ़ने के कुछ सप्ताह पहले
'नवयुवक राजनीतिक कार्यकर्ताओं के नाम' लिखे पत्र से।

तिब्बत : आजादी का सवाल या साम्राज्यवादी षड्यन्त्रा

❑ दिगम्बर

तिब्बती शरणार्थियों द्वारा दुनिया भर में अगस्त 2008 में होने वाले बीजिंग ओलम्पिक खेलों के बायकाट के मुद्दे को साम्राज्यवादी मीडिया ने मसालेदार बिकाऊ समाचार बनाकर खूब भुनाया। चीन विरोधी भावना को भड़काने और वहाँ से खदेड़े जाने की कसक निकालने का साम्राज्यवादियों को अच्छा मौका हाथ लग गया। तिब्बत में भी गैर-तिब्बती चीनियों के खिलाफ 14 मार्च को हुई हिंसा में कम से कम 22 लोग मारे गये और 700 से ज्यादा लोग घायल हुए। ल्हासा में लूट-पाट करती हिंसक और उन्मादी भीड़ के साथ द्रेपुंग बौ) मठ द्धमोनेस्ट्रीऋ के 300 उग्र भिक्षु भी शामिल थे।

राजधानी ल्हासा में दंगाइयों ने मासूम नागरिकों के साथ दुर्व्यवहार, हत्या, आगजनी तथा सार्वजनिक और निजी सम्पत्ति को भारी नुकसान पहुँचाने जैसे तमाम कारनामे किये। भीड़ ने एक आदमी के ऊपर पेट्रोल छिड़क कर आग लगा दी, एक गश्ती सिपाही को बुरी तरह पीटा और उसके शरीर से एक मुठी भर माँस नोच लिया। यही नहीं 800 डरे-सहमे बच्चों से भरे स्कूल में भी उन्होंने आग लगा दी। टी॰वी॰ पर दिखाये गये दृश्यों और आँखों देखी रिपोर्टों से इस भयानक सच्चाई की पुष्टि होती है जिसके चलते खुद दलाई लामा को अपना पद त्यागने तक की धमकी देनी पड़ी। यह हिंसा जल्दी ही तिब्बत से लगे गान्शू और सी च्यूआन प्रान्तों के तिब्बती बहुल इलाकों में भी ैल गयी।

पश्चिमी विश्लेषक इन दंगों को 10 मार्च 1959 में दलाई लामा द्वारा करवाये गये असफल तख्ता पलट की वर्षगाँठ से जोड़ रहे हैं, जिसके बाद उन्हें तिब्बत से भागना पड़ा था। उनका मानना है कि तिब्बत में भड़की यह हिंसा दलाई लामा और चीनी सरकार के बीच वार्ताओं में गतिरोध आने का परिणाम है। इस हिंसा का ायदा उठाकर वे चीन में मानवाधिकारों के खराब रिकार्ड और 8 से 24 अगस्त के बीच होने वाले बीजिंग ओलम्पिक खेलों के बायकाट को भी हवा दे रहे हैं। यदि साम्राज्यवादी मीडिया के धर्मशाला में तथाकथित 'तिब्बत की निवार्सित सरकार'' और ''आजाद तिब्बत'' के लिये चलाये जा रहे प्रचार अभियान तथा अमरीकी राजनयिक नेन्सी पेलोसी और हॉलीवुड के सितारों की मानें तो तिब्बत में चीनी कम्युनिस्ट शासन के खिलाफ अपने जनवादी अधिकारों के लिये तिब्बत की जनता उठ खड़ी हुई है। इन हिंसक घटनाओं के बाद अमरीका और पश्चिमी मीडिया ने चीन पर दलाई लामा से बातचीत करने के लिए दबाव भी बढ़ाना शुरू किया। कई पश्चिमी देशों ने तो ओलम्पिक मशाल का बायकाट करने या उससे अलग रहने की बातें भी कीं। कई देशों में सरकारी संरक्षण में ओलम्पिक मशाल का प्रायोजित विरोध हुआ भी और उसे बुझानें का फल-असफल प्रयास हुआ।

चीन की सरकार दलाई लामा के साथ वार्ताएँ कर रही है। सच्चाई यह है कि तीन दशक से एकीकृत चीन की अवधारणा के तहत सन् 2000 से शुरू हुई वार्ताओं के छठे दौर में पिछले साल गतिरोध आ गया। कारण यह है कि दलाई लामा ने दो ऐसी माँगें पेश कर दीं जिन्हें स्वीकार करना चीन के लिए सम्भव ही नहीं था। पहली माँग थी–'एक देश दो व्यवस्था' के सि)ान्त के तहत 'उच्च स्तर' की या 'अधिकतम' स्वायत्ता की माँग। चीन की सरकार ने स्पष्ट कर दिया था कि यह केवल हाँगकाँग, मकाओ और ताईवान पर लागू होता है और उसके निश्चित ऐतिहासिक कारण है। इसलिए 20 नवम्बर 2005 में दलाई लामा द्वारा पेश किया गया यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया जा सकता। दलाई लामा की दूसरी माँगें हैं कि एक वृहत्तर तिब्बत का गठन किया जाये जिसमें आस-पास के तमाम तिब्बती बाहुल्य इलाके शामिल किये जाये। अभी तिब्बत स्वायत्त क्षेत्र का कुल क्षेत्रफल चीन का 8वाँ भाग है और यहाँ 26 लाख मूल तिब्बती आबादी रहती है। यह चीन में तिब्बतियों की कुल आबादी का केवल 40 ीसदी बैठती है। यदि 'वृहत्तर तिब्बत' का इलाका भी इसमें जोड़ा जाये तो यह चीन के कुल क्षेत्रफल का एक चौथाई हो जायेगा और इसके गठन के लिए चीनी सरकार के मुताबिक, क्विंगहाई, मान्शू, सीचियान और मुन्नान प्रान्तों को नस्ल के आधार पर विभाजित करना होगा जो चीन के सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे को भी भारी नुकसान पहुँचा सकता है। इसलिए यह माँग भी स्वीकारी नहीं जा सकती। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वार्ताओं

के गतिरू) होने के लिए दलाई लामा जिम्मेदार है। न केवल तिब्बत को पूरी तरह चीन के नियन्त्रण से बाहर करने की बल्कि उसके चार अन्य प्रदेशों को भी तिब्बत में शामिल करने की माँग कर रहे हैं।

वार्ताओं के जरिये तिब्बत की समस्या का राजनीतिक समाधान किस दायरे में निकाला जाये? चीन की सरकार का पक्ष स्पष्ट है–अगर दलाई लामा 'एक चीन' की अवधारणा को स्वीकार करते हैं और 'आजाद तिब्बत' की माँग को छोड़ देते हैं तभी उनसे वार्ताएँ की जा सकती हैं। यह अवस्थिति विश्वव्यापी सहमति पर आधारित और कफी तर्क-संगत है क्योंकि दुनिया में एक भी ऐसी सरकार नहीं है जो तिब्बत की स्थिति को विवादास्पद मानती हो, उसे चीन का अंग न मानती हो, या वह दलाई लामा की 'निर्वासित सरकार' को मान्यता देती हो। तिब्बत की स्थिति कश्मीर से पूरी तरह भिन्न है क्योंकि कश्मीर के सवाल पर इस स्तर की अन्तरराष्ट्रीय सहमति नहीं है।

लेकिन फिर भी तिब्बत के सवाल को राजनीतिक तौर पर हल नहीं माना जा रहा। दलाई लामा और 'आजाद तिब्बत' के लिए आन्दोलन जो साम्राज्यवादी देशों के हितों की पूर्ति करते हैं और जिसे भारत जैसे देशों की शह है, इस सवाल को जिन्दा रखे हुए हैं। तिब्बत की तथाकथित निर्वासित सरकार का मुख्यालय भारत के हिमाचल प्रदेश द्धधर्मशालाऋ में स्थित है।

१९५१ से पहले और उसके बाद का तिब्बत

दलाई लामा के धार्मिक शासन के तहत पिछली सदी के मध्य तक तिब्बत में जमीनों और अधिकांश साधनों पर बड़े लामाओं, अभिजातों और सरकारी अधिकारियों का कब्जा था। 1951 में तिब्बत की आम आबादी भूदासों और दासों की हालत में जी रही थी। इनकी कुल संख्या लगभग 10 लाख थी जो बेहद गरीबी में उच्च वर्ग के गुलामों के रूप में जीवनयापन करने को मजबूर थी। पढ़ाई-लिखाई, इलाज या किसी भी किस्म की कोई सुविधा उन्हें प्राप्त नहीं थी, और न ही वे आजाद थे। उन्हें बेगार द्धतिब्बती भाषा में 'ज्लाग' करनी पड़ती थीऋ और भारी लगान चुकाना पड़ता था। आबादी बहुत कम थी। बीमारी और बदहाली के कारण आदमी की औसत आयु 36 साल से ज्यादा नहीं थी। उच्च वर्ग में अगर भिक्षुओं और भिक्षुणियों को छोड़ दिया जाये तो उनकी संख्या 10 ीसदी से ज्यादा नहीं बैठती थी। इस निरंकुश सामन्ती-धार्मिक व्यवस्था के शीर्ष पर दलाई लामा विराजमान थे। दलाई लामा के सामने नजर उठाने वाले की आँखें निकाल ली जाती थीं।

1951 में चीन की सरकार ने तिब्बत को औपनिवेशिक शासन से आजाद करवाया द्धइसकी तुलना गोवा को भारत द्वारा शान्तिपूर्वक तरीके से आजाद कराने से की जा सकती है।ऋ जिसे खुद दलाई लामा ने भी मान्यता दी थी। चीन की सरकार से हुए 17 सूत्री समझौते में दलाई लामा ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि तिब्बत चीन का अंग है और तिब्बत की आजादी और विकास के प्रयास में चीन की जन सेना की मदद करेंगे।

लेकिन 1959 में दलाई लामा के निरंकुश शासन के खिलफ दासों और भूदासों का सशस्त्र विद्रोह ूट पड़ा। भूदास प्रथा और जमीन्दारी का खात्मा करके तिब्बत की आम जनता ने समाजवाद की ओर कदम बढ़ाना शुरू कर दिया। इस घटना के बाद दलाई लामा भागकर भारत आ गये और भारत में आकर तिब्बत को ''स्वतन्त्र'' घोषित कर दिया। उन्होंने तिब्बत की क्रान्तिकारी सरकार के तख्तापलट करवाने का असफल प्रयास किया और संयुक्त राष्ट्र संघ से तिब्बत में हस्तक्षेप करने की माँग की जो असफल रही। 1960 में उन्होंने नेपाल में ''चार नदियों और छः पहाड़ियों की धार्मिक सेना'' के पुनर्गठन का आदेश दिया और इस तरह चीनी सरकार के खिलफ सैनिक कार्रवाइयाँ भी शुरू कर दीं।

साम्राज्यवादी देशों के औपनिवेशिक हितों और उनके विचारात्मक राजनीतिक मन्सूबों की पूर्ति में सहायक होने के कारण आज भी दलाई लामा तिब्बत में दंगे भड़काने में समर्थ है। अपनी संकीर्ण क्षेत्रीय महत्त्वाकांक्षाओं और अमरीका परस्ती के कारण भारत के शासक वर्ग भी चीन के खिलफ इस साम्राज्यवादी षड्यन्त्र के सहयोगी हैं। पिछले चार दशकों के दौरान तिब्बत में हुई सामाजिक आर्थिक प्रगति को देखते हुए दलाई लामा के निरंकुश शासन के तहत कराहते तिब्बत से इसकी कोई तुलना ही नहीं है। चीन की औसत विकास दर 10 ीसदी है। इसकी तुलना में तिब्बत की विकास दर 6 सालों में 12 ीसदी से ज्यादा रही है और अभी वह 13-14 ीसदी की तेज र"तार से विकास कर रहा है। सुख-समृ), आबादी में बढ़ोत्तरी, जीवन स्तर में उन्नति, शिक्षा, इलाज आदि की व्यवस्था : तिब्बत आज हर तरह से ल ूल रहा है। लगभग 2000 कि॰ मी॰ लम्बी किंगहाए-तिब्बत रेलवे लाइन ने जो उसे मुख्य चीन के मुख्य भाग से जोड़ती है, तिब्बत के विकास को बहुत तेज कर दिया है। तिब्बत खाद्यान्न उत्पादन के मामले में आत्मनिर्भर हो चुका है। 9

साल तक मु"त और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था है जिसके तहत वहाँ के 96.5 ीसदी बच्चे शिक्षा प्राप्त करते हैं।

इसलिए दलाई लामा और उसके धार्मिक प्रतिष्ठान तथा साम्राज्यवादी प्रचार माध्यमों द्वारा चीन की तानाशाह व्यवस्था के बरक्स 'लोकतान्त्रिक' धार्मिक शासन के दावों में कोई दम नहीं है। 1951 में तिब्बत दलाई लामा के भूदास प्रथा के निरंकुश शासन के नीचे कराह रहा था साथ ही क्रान्तिकारी सरकार के कायम होने से पहले वह साम्राज्यवादी ताकतों, पहले ब्रिटेन और जारशाही रूस और बाद में ब्रिटेन और अमरीका द्वारा लूटा-खसोटा जा रहा था और उनकी दखलन्दाजी का शिकार था। आज भी उस खोए हुए स्वर्ग की प्राप्ति के साम्राज्यवादी प्रयास में दलाई लामा उनके एजेण्ट की भूमिका निभा रहे हैं।

''भारत की भूमिका''

1959 में दलाई लामा को शरण देने से लेकर आज तक भारत अपनी संकीर्ण क्षेत्रीय महत्त्वाकांक्षाओं के चलते इस साम्राज्यवादी षड्यन्त्र में सहयोगी बना रहा है। भारत का आधिकारिक तौर पर ''लगातार स्पष्ट'' मत रहा है कि तिब्बत चीन का अभिन्न अंग है। 24 मार्च को वाशिंगटन यात्रा के दौरान प्रणव मुखर्जी ने एक बार फिर इस सि)ान्त को दोहराया कि तिब्बतियों को भारत में ''चीन विरोधी राजनीतिक गतिविधियों के संचालन'' की इजाजत नहीं दी जायेगी। लेकिन सभी जानते हैं कि व्यवहार में इन दावों का उल्लंघन किया जाता रहा है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि दलाई लामा की सरकार भारत में धर्मशाला में कायम है।

अपनी अमरीका परस्ती में भारत इतने आगे इस हद तक बढ़ गया है कि वह मौजूदा दंगों के दौरान उसके सुर में सुर मिलाने लगा और चीन से अपने रिश्ते और भी खराब कर लिये। तिब्बत के दंगों को देखते हुए दिल्ली के चीनी दूतावास की सुरक्षा की कारगर व्यवस्था नहीं की गयी जिसके चलते दलाई लामा समर्थक वहाँ घुसकर प्रदर्शन करने में स्फल रहे। चीन ने भारत के रूख पर नाराजगी जाहिर की है और तिब्बत की स्थिति का मुआयना करने के लिए बुलाये गये राजदूतों में उसने भारत के राजदूत को शामिल नहीं किया।

अमरीका के लिए तिब्बत का रणनीतिक महत्त्व है। उत्तरी कोरिया में अमरीका का और ताईवान में चीन का हित फँसा हुआ है। तिब्बत का मसला अमरीका द्वारा चीन पर दबाव बनाने का एक कारगर हथियार है। 1959 से ही वह इस मामले को अन्दर-अन्दर हवा देता रहता है। भारत का हित और अमरीका का हित एक नहीं हो सकता। अमरीका अपनी विदेश नीति को स्वतन्त्र रूप से अपनी प्राथमिकता के अनुरूप संचालित करता है। लेकिन भारत उसके साथ पिछलग्गूपन का व्यवहार करता है। नाभिकीय समझौता, रणनीतिक साझेदारी समझौता, ईरान के खिलाफ होते जाना, इजराइल की ओर तेजी से झुकाव ये सभी अमरीका परस्ती के प्रमाण है। तिब्बत के मामले में भी भारत का रूख महाशक्ति के अहलकार जैसा है। भारत के शासकों का 1959 में दलाई लामा को शरण देने, धर्मशाला स्थित 'तिब्बत की सरकार' द्वारा चीन विरोधी गतिविधियों का संचालन और अमरीकी षड्यन्त्रों का सहयोगी बनने की उन्हें काफी कीमत चुकानी पड़ी है।

भारतीय मीडिया जिस पर साम्राज्यवाद का प्रभाव तेजी से बढ़ता जा रहा है अमरीकी मीडिया को भी मात देते हुए चीन विरोधी प्रचार और साम्राज्यवादियों द्वारा प्रायोजित तिब्बत के आन्दोलन को उछालते हैं और एक तरफा रिपोर्टिंग करते हैं।

किसी भी भौगोलिक क्षेत्र की जनता को ही इस बात का फैसला करने का अधिकार होता है कि उसका हित किस देश के साथ रहने में है या स्वतन्त्र होने में। तिब्बत चीन का एक स्वायत्त प्रान्त है। पिछले 50 वर्षों के इतिहास, वहाँ की प्रगति, वहाँ के निवासियों की आकांक्षा और चीन के साथ उसके आपसी सम्बन्धों का वस्तुगत मूल्याँकन करें तो वहाँ दूर-दूर तक किसी भी अलगाववादी आन्दोलन की सम्भावना नहीं दिखती। यही कारण है कि उकसावे की कार्रवाइयाँ और हिंसक वारदात एक-दो दिन में ही ठण्डी हो जाती हैं। किसी क्षेत्र में वस्तुत: जनता के बीच ऐसे किसी आन्दोलन की जड़ मौजूद हो तो वह इतना क्षणभंगुर नहीं हो सकता, जैसा तिब्बत में हुआ। दुनिया के जिन-जिन हिस्सों में जेनुइन अलगाववादी आन्दोलन चल रहे हैं और जिन्हें जनसमर्थन प्राप्त है वह अचानक छिड़े दंगे-फसाद और प्रायोजित प्रतीकात्मक विरोधा की तरह तुरन्त बुझने वाले नहीं होते। उनकी आँच देर तक रहती है। जाहिर है कि तिब्बत में रहने वाले निवासी और वहाँ से पलायन करके पराजित साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ षड्यन्त्र रचने वालों के हित एक नहीं है। तिब्बत की आजादी के नाम पर हो रहा हंगामा चीन विरोधी साम्राज्यवादी षड्यन्त्र और तिब्बत को दुबारा मध्य युगीन गुलामी में जकड़ने के लगातार प्रयासों के हिस्से के सिवा कुछ नहीं।

तिब्बत के दंगों का आँखों देखा हाल

❑ **तानिया ब्रानिगन**

''हे भगवान्! क्या पागलपन है! 100 लोग एक आदमी को पत्थर से मार गिराने की कोशिश कर रहे हैं। वह आदमी मोटर साइकिल पर सवार है और गली से निकलने की कोशिश कर रहा है, वे उसे पत्थर मारकर गिराने की कोशिश कर रहे हैं लेकिन भीड़ के कारण मैं देख नहीं पायी कि वे उसे पकड़ पाये या नहीं।''

''शुक्रवार को 5 बजे हम घूमने निकले। हम सेरा स्ट्रीट पर थे, जो क्लूकांग भिक्षुक संघ तक जाती है। ऐसा लगा कि उधार से शोर उठा है, पहले ऐसा लगा जैसे वे मन्दिर के अन्दर लड़ रहे हैं।''

''हमने लोगों को दौड़ते हुए देखा। होटल के लोगों ने बताया कि जल्दी से कमरे में चले जाइये क्योंकि भीड़ आ रही है। उनकी बात ठीक थी क्योंकि इस होटल का मालिक तिब्बती था। बाकी सभी होटलों की खिड़कियाँ टूटी दिखाई दे रही थीं।''

''यहाँ के निवासी बेहद नाराज हैं। वे उन सभी को पत्थरों से मार रहे हैं जो लोग चीनी ह्यहानऋ हैं या अन्य अल्पसंख्यक समुदाय से हैं। लगता है जैसे नस्ली दंगा भड़क उठा है क्योंकि वे हर उस आदमी को मार डालना चाहते हैं जो तिब्बती नहीं हैं।''

''यहाँ दंगा अधिक नहीं पर मुझे लगता है कि शहर के केन्द्र में स्थिति ज्यादा बुरी है। चारो और धुआँ उठ रहा है और जली हुई चीजें देखी जा सकती हैं। मैंने लोगों को कहते सुना कि पुलिस गोली चला रही है। हमें नहीं मालूम। यहाँ तो लोग हर उस आदमी को पत्थर मार रहे हैं जिसे वे मारना चाहते हैं जैसे हान या अन्य अल्पसंख्यक, लेकिन विदेशियों को नहीं। तिब्बतियों के पास पत्थर और चाकू हैं। मैंने चीनी लोगों को बदहवास भागते देखा और वे असहाय दिखायी देते हैं।''

''हमें पुलिस नहीं दिखी। हो सकता है कि वे सभी केन्द्रीय शहर में हों और उनके पास नुर्सत न हो। चारो और भारी हिंसा का वातावरण है।''

''हे भगवान्! मेरे सामने कोई बन्दूक लिये चला जा रहा है। 20 लोगों का जत्था है उनमें से दो के हाथ में तमन्चा है। वे गोली चलाते घूम रहे हैं। वे वर्दीधारी नहीं हैं लेकिन वे जिस तरह समूह में दिखायी दिये, मैंने सोचा कि शायद वे पुलिस वाले हैं। वे गली में भीतर चले गये और उनमें से एक ने गोली चलायी। मुझे लगता है दूसरों ने भी गोली चलायी। शोर गुल इतना ज्यादा था कि मैं निश्चित नहीं कह सकती। उसके बाद कुछ तिब्बतियों ने पत्थर मारना शुरू किया लेकिन वे उन्हें निशाना नहीं बना रहे थे। वे दूसरी ओर पत्थर फेंक रहे थे। इसलिए मैं नहीं जानती कि वे पुलिस वाले थे या तिब्बती।''

''मैं अभी अपना सामान लेने के लिए निकली हूँ। आज रात हम होटल में रुके हैं। अभी भी गलियों में लोग दिख रहे हैं लेकिन केवल तिब्बती और यदि कोई चीनी दिखायी पड़ता है तो वे उसे पत्थर मार रहे हैं।''

''तीन बार लोगों ने मुझे मारने के लिए हथियार उठाये लेकिन जब देखा कि मैं गोरी हूँ तो मुझे छोड़ दिया। जिस बात ने मुझे ज्यादा चकित किया वह यह कि मैंने कोई पुलिस या सैनिक वहाँ नहीं देखा।''

''मैंने देखा तीन आदमी मिलकर एक आदमी को मार रहे हैं, मैं 50 मीटर दूर थी। मुझे लगता है कि वह चीनी था। उन्होंने उसे लात मारी और फिर एक आदमी ने उस पर चाकू से वार किया। वह नर्श पर पड़ा था जब उस आदमी ने उसकी पीठ में चाकू मारा, मानो वह उसे मरा देखना चाहता हो। मुझे वहाँ से हटना पड़ा क्योंकि लोग पत्थर मार रहे थे।''

''जब मैं वापस लौटी वह जा चुका था और मैं नहीं जानती कि वह मरा था या नहीं। तब मैंने ऐसे लोग देखे जिन्हें पीटा गया था या पत्थर मारा गया था। उनके शरीर से खून नहीं बह रहा था लेकिन वे बदहवास दिखायी दे रहे थे।''

''यह ऐसा इलाका था जहाँ तिब्बती और चीनी आपस में दोस्त हुआ करते थे।''

''मुझे लगता है कि स्थिति और बिगड़ने जा रही है। एक आदमी ने मुझे बताया कि मुख्य शहर में 300 लोग मरे हैं। ह्यइसकी पुष्टि नहीं हो पायीऋ सच क्या है मुझे नहीं पता है।''

–(द हिन्दू १८-०२-०८ से साभार) ❑

हॉकी की हार के गुनाहगार

❑ रघुनाथ

'चक दे इण्डिया' फिल्म ने देश भर में हॉकी के प्रति उत्साह और उमंग का जो माहौल बनाया था, वह पिछले 9 मार्च की रात अचानक भंग हो गया। आठ बार ओलम्पिक चैम्पियन रही और अब तक हरएक ओलम्पिक में खेलने वाली भारतीय हॉकी टीम सेण्टियागो द्धचिलीऋ में ब्रिटिश टीम से 2-0 से हारने के बाद ओलम्पिक से बाहर हो गयी।

अगर हॉकी के जादूगर मेजर ध्यानचन्द 100 साल की उम्र में आज जिन्दा होते तो हॉकी की ऐसी शर्मनाक स्थिति को देख, उन पर न जाने क्या गुजरती। हालाँकि 1979 में अपनी मौत से तीन साल पहले ही वे 1976 के माण्ट्रियाल ओलम्पिक में भारत का घटिया प्रदर्शन देख चुके थे। लेकिन 80 साल के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ जब भारतीय टीम ओलम्पिक में खेलने के लिए क्वालीफाई भी नहीं कर पायी। कैसा गजब है कि 1928 के बाद से अब तक आठ बार स्वर्ण पदक जीतने वाली भारतीय हॉकी टीम का बीजिंग ओलम्पिक में कहीं नामोनिशान भी नहीं होगा, हॉकी का काबा-काशी कहलाने वाला जालन्धर का संसारपुर गाँव इस मनहूस खबर को सुनकर मातम में डूब गया। भारतीय हॉकी को 13 ओलम्पियन, 16 अन्तरराष्ट्रीय और 125 राष्ट्रीय खिलाड़ी देने वाला यह गाँव इस हार से शर्मसार है।

1928	–	एम्स्टर्डम में पहला स्वर्ण पदक
1932-36	–	हॉकी से दुनिया में पहचान मिली
1948-64	–	भारतीय हॉकी का एकछत्र राज
1968-72	–	पतन शुरू, स्वर्ण की जगह केवल कांस्य मिले।
1976-2004	–	7वें, 8वें स्थान के बीच झूलते रहे।
1980	–	मास्को ओलम्पिक में स्वर्ण पदक, लेकिन उस वर्ष शीर्ष टीमों ने ओलम्पिक का बहिष्कार किया था।
2008	–	बड़े बेआबरू होकर ओलम्पिक के कूचे से बाहर निकले

भारतीय हॉकी प्रेमियों के लिए वाकई यह बुरी खबर है। इसका सबसे खराब प्रभाव उन लोगों पर भी पड़ेगा जिन्होंने अभी हाल में हॉकी के मैदान में कदम रखा है। इस हार के लिए सरकार, भारतीय हॉकी महासंघ व ओलम्पिक समिति सभी जिम्मेदार हैं। हॉकी महासंघ के सभी अधिकारियों को तो गौरन इस्तीफा दे देना चाहिए था। लेकिन क्या बेहयाई के इस दौर में उनसे ऐसी उम्मीद की जा सकती है?

इस हार के कई कारण हैं। हॉकी महासंघ और सरकार की कोई दूरगामी खेल नीति और दीर्घकालिक योजना का अभाव, महासंघ के अधिकारियों का हॉकी से कहीं ज्यादा अपनी कुर्सियों से लगाव, मनमानी, लापरवाही और खुदगर्जी। जब चाहा किसी खिलाड़ी को टीम में ले लिया, जब मर्जी बाहर कर दिया। महासंघ बहुत पहले से ऐसी मनमानी कर रहा है लेकिन उसे रोकने वाला कोई नहीं है। बकौल केन्द्रीय खेली मन्त्री, ''हार के लिए कौन जिम्मेदार है? यह बात फेडरेशन से पूछनी चाहिए। हमारे मन्त्रालय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।''

भारतीय हॉकी के इतिहास पर एक सरसरी नजर डालें तो अर्श से लुढ़कते हुए फर्श तक पहुँचने का सिलसिला साफ दिखायी देता है–

मुख्य कोच जोकिम कार्वाल्हो ने ब्रिटेन से मिली इस निराशाजनक हार के तुरन्त बाद इस्तीफे की घोषणा करते हुए कहा, ''11 महीने पूर्व जब मैंने टीम की जिम्मेदारी सम्भाली थी तो कहा था कि अगर मैं परिणाम नहीं दिला सका तो इस्तीफा दे दूँगा। आज मैं अपने वचन का पालन कर रहा हूँ।'' हॉकी के पूर्व खिलाड़ियों की तरु से इस हार के बाद काफी प्रतिक्रियाएँ आयीं, जिसमें सबने एक बात तो मुख्य रूप से दुहरायी कि हॉकी महासंघ के अध्यक्ष के॰पी॰एस॰ गिल और दूसरे हाकिमों को तुरन्त इस्तीफा दे देना चाहिए। लेकिन गिल का कहना है कि, ''हम कोई आधुनिक कॉफी मशीन नहीं हैं, जिससे तुम्हें एक दम परिणाम

मिलें। अपनी स्थिति को दोबारा पाने में समय लगता है।'' सच्चाई यह है कि गिल के कार्यकाल में ऐसी ही असफलताएँ बार-बार मिलीं लेकिन हर बार उन्होंने किसी और के ऊपर जिम्मेदारी डाल दी। जानकार लोगों का मानना है कि हॉकी की यह दुर्दशा, गिल के कारण ही हुई है जिन्होंने हॉकी संघ को एक तानाशाह की तरह चलाया। कई सालों बाद 1998 एशियाड में धनराज पिल्लै के नेतृत्व में भारतीय टीम ने स्वर्ण पदक जीता था। लेकिन गिल की मनमानी के चलते धनराज और मुकेश सहित टीम के 6 मुख्य खिलाड़ियों को टीम से बाहर कर दिया गया। यही नहीं, पिछले 10 सालों में 15 कोच बदले गयें। क्या गिल की निगाहों में वे ''कॉगी की आधुनिक मशीन थे''? किसी भी कोच की भूमिका को कैसे परखा जा सकता है? जब तक उसे वाजिब समय न दिया जाये और उससे अपेक्षा की जाये की वह अपना कार्यकाल बढ़ाने के लिए आला अफसरों की चापलूसी करे।

सूत्रों के मुताबिक हॉकी महासंघ के बजट का 80 फीसदी इसके उच्च अधिकारियों पर जाया होता है जबकि खिलाड़ियों पर उसका एक छोटा सा हिस्सा ही खर्च होता है। इसका अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि मैच के दौरान खिलाड़ियों को अपने साजो-सामान और पोशाक भी खुद धोने होते हैं। साथ ही, थोड़े-थोड़े समय के लिए बनायी गयी रणनीति की बदौलत आमतौर पर फलता की गुन्जाइश बहुत कम होती है। किसी दीर्घकालीन योजना के अभाव में, कोई आश्चर्य नहीं कि भारतीय हॉकी, देश और दुनिया के पैमाने पर लगातार बर्बादी की ओर बढ़ती चली गयी।

सच्चाई यह है कि भारतीय हॉकी की फलता के दौर में भी इसके बहुत सारे माई-बाप थे और आज भी हैं। लेकिन इन सबको इसकी परवरिश से ज्यादा खुद अपनी ही चिन्ता सताती रहती है। वर्ष 1975 में जब भारतीय हॉकी टीम ने विश्व कप हासिल किया था तब उसकी जिम्मेदारी भारतीय ओलम्पिक संघ ने उठायी थी, क्योंकि उस समय हॉकी संघ आपसी कलह-फसाद में फँसा हुआ था। विडम्बना देखिये कि जब हॉकी के माई-बापों के बीच छीना-झपटी का खेल चल रहा था तब दूसरे देश इस खेल में भारत-पाक के दबदबे को खत्म करने के लिए इसे एस्ट्रो र्ट्फ घासफ्र पर लाकर कलात्मक खेल की जगह 'पावर गेम' बनाने में जुटे थे। आस्ट्रेलिया ने जिस भारतीय शख्स को 1971 के आस-पास अपनी टीम का कोच बनाया था, उसे भारतीय हॉकी संघ ने कभी घास नहीं डाली। जहाँ यूरोपीय देश हॉकी को एस्ट्रो र्ट्फ पर लाने वाले थे, वहीं कंगारूओं ने उसी भारतीय कोच की मदद से एशियाई और यूरोपीय हॉकी को मिलाकर एक ऐसा चमत्कार पैदा किया जिसने आस्ट्रेलिया को विश्व हॉकी के शिखर पर पहुँचा दिया।

भारत आखिरी बार 1975 में क्वालालम्पुर में घास के मैदान पर विश्व चैम्पियन बना था और मॉस्को में पालीग्राम द्धनकली घासफ्र पर ताकतवर मुल्कों की गैर मौजूदगी में ओलम्पिक जीता था। लेकिन हमारी हॉकी 1976 के माण्ट्रियाल ओलम्पिक में चादर तानकर सो गयी। भले ही लोग कहें कि इसे ताबूत में सुलाने का काम अब जाकर किया गया, लेकिन सही मायने में तो 1983 में, जब कपिल देव की टीम ने इंग्लैंड में क्रिकेट विश्व कप जीता, उसके बाद से ही इसका पराभव शुरू हो गया था। हॉकी को रसातल में ले जाने का जिम्मा भले ही हॉकी संघ का रहा हो लेकिन कुछ ऐसी बातें हैं जिन पर गौर करें तो हॉकी की हताशा को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। वर्ष 1983 में क्रिकेट विश्व कप की जीत और 1976 में माण्ट्रियाल ओलम्पिक में हॉकी की हार के गम्भीर नतीजों की सम्भावना को हमारी सरकार और भारतीय ओलम्पिक संघ ने नजरन्दाज किया। उनमें शायद इतनी दूरदर्शिता थी भी नहीं या सम्भव है कि क्रिकेट मोह ने उन्हें अन्धा बना दिया हो। क्रिकेट में उस जीत से लोगों को ऐसा नशा मिला, जिसे स्वार्थी तत्वों ने सचेत तौर पर बढ़ाया और भुनाया। इसमें ग्लैमर और पैसे का बोलबाला बढ़ा, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की ताकत में बेशुमार इजफे के बाद, यह छोटे शहरों, कस्बों और गाँवों तक पसर गया। नतीजा यह हुआ कि यू॰पी॰, बिहार, झारखण्ड, गोवा, पंजाब, हरियाणा जैसे प्रदेश जो हॉकी, फुटबाल, वालीबॉल, कुश्ती और बास्केटबॉल की पौधशाला हुआ करते थे, आज वहाँ के कस्बों और गाँवों में नयी पीढ़ी क्रिकेट के पीछे पागल है। आज भारतीय क्रिकेट इतना फल-फूल रहा है कि खिलाड़ियों की करोड़ों में बोली लग रही है। मैच फिक्सिंग और सट्टेबाजी को मीलों पीछे छोड़, अब खिलाड़ियों की खुले आम खरीद-फरोख्त हो रही है। क्रिकेट की जड़ें दूर तक फैली हुई हैं। जबकि हॉकी का न तो कोई ढाँचा बचा है और न ही उसकी सप्लाई लाइन का कोई अस्तित्व है। इसी वजह से पूरा तन्त्र ही ठूँठ होकर रह गया है। इस हालत पर न तो खेल मन्त्रालय को कोई चिन्ता है और न

ही किसी राज्य इकाई को। खेल प्रेमियों की भूमिका तो हमारे यहाँ मूक दर्शक या गोल और चौके-छक्के पर ताली पीटने वालों से ज्यादा कभी रहीं ही नहीं। जब पूरे समाज में ही जनवाद का अभाव है तो भला खेल जगत ही इससे अछूता कैसे रह जायेगा।

किसी भी देश में बेहतरीन मेधा और प्रतिभा हमेशा ही सीमित होती है और उस समाज के रहनुमाओं की यह जिम्मेदारी होती है कि वे खेलों और दूसरे क्षेत्रों में ऐसे लोगों की पहचान करें और उन्हें प्रोत्साहन दें, इसमें कोई शक नहीं कि हमारे शासकों ने हर क्षेत्र की तरह खेल के मोर्चे पर भी अकर्मण्यता का भरपूर प्रदर्शन किया है। खेल संघों पर कुण्डली मारकर बैठे राजनेताओं और प्रशासनिक अधिकारियों ने ही हालात को दिनों-दिन बदतर बनाया है।

ऐसे दौर में जब क्रिकेट, टेनिस और गोल्फ जैसे खेलों पर दिनों-दिन पूँजी और सत्ता का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है और उसकी बदौलत उनसे जुड़े लोग झरात दौलत बटोर रहें हैं, भारतीय हॉकी एक पौराणिक कथा बनकर रह गयी है। जब देश में खेल मन्त्री यह कहते हैं कि ओलम्पिक में क्वालीफाई न कर पाने के बावजूद, वे हॉकी संघ के खिलाफ कुछ नहीं कर सकते तो रहा-सहा भ्रम भी दूर हो जाता है।

भारतीय हॉकी के मुस्तकबिल को अँधेरे में गर्क करने के गुनाहगार आखिर कौन हैं? भारतीय हॉकी संघ माने या न माने लेकिन देश ने हॉकी की हिफाजत उसके जिम्में सौंपी है और वही दूसरे के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार है। पिछले 25-30 सालों में लगातार हॉकी के स्तर में गिरावट आती रही, जबकि हॉकी संघ के अधिकारी ओछी राजनीति और गुटबाजी में समय बर्बाद करते रहे। उन्होंने इस बात पर तवज्जों नहीं दी कि हमारे राष्ट्रीय खेल हॉकी को पीछे छोड़ते हुए, पूँजी से साँठगाँठ करके क्रिकेट काफी आगे निकल गया और एक ब्राण्ड के रूप में स्थापित हो गया। सिर्फ हॉकी ही नहीं बल्कि पूरे खेल जगत पर ही आज क्रिकेट का एकाधिकार कायम हो गया है।

यह साम्राज्यवादी संस्कृति के उस हमले का नतीजा है जिसके तहत बहुरंगी संस्कृतियों के विविध रूपों पर बुल्डोजर चलाकर एकरस और सपाट बना दिया जाता है ताकि संस्कृति ब्रुखेल जिसका महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैऋ को मुनाफे का जरिया बनाया जा सके। हर कोई जानता है कि एकाधिकार या प्रभुत्व ऐसे बरगद हैं जिसके नीचे दूसरे पेड़-पौधे पनप नहीं सकते। क्रिकेट के बरगदी ब्राण्ड के नीचे हॉकी समेत दूसरे सारे खेल दबते चले गये। यह खुद ब खुद नहीं हुआ। 90 के दशक में साम्राज्यवादियों के साथ गठजोड़ करके सरकार ने देश में नयी आर्थिक नीतियाँ लागू की जिन्होंने देश को एक नयी गुलामी की ओर अग्रसर किया। इसके हमले से हमारी संस्कृति भी अछूती नहीं रही। भारत में उपभोक्तावादी संस्कृति को भरपूर बढ़ावा दिया गया। क्रिकेट ने 1984 के बाद से ही रेडियो कमेण्ट्री और टी॰वी॰ के सीधे प्रसारणों की बदौलत एक विराट दर्शक-श्रोता समुदाय बटोर लिया था। इसे मुनाफे में बदलने के लिए बड़े-बड़े कॉरपोरेट घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने क्रिकेट पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। पूँजीपतियों ने क्रिकेट खिलाड़ियों को देश की नयी पीढ़ी के नायक की तरह स्थापित करके, उनसे अपने उत्पाद का प्रचार करवाना शुरू किया। चूँकि क्रिकेट का खेल 5 दिन या 1 दिन पूरा चलता है और उसमें विज्ञापन दिखाने के लिए काफी समय मिलता है। इसलिए पूँजीवादी ताकतों ने क्रिकेटरों को माल बना दिया और अन्धाधुन्ध मुनाफा बटोरना शुरू किया। इसके ठीक विपरीत तेज र"तार हॉकी के खेल में ऐसी कोई गुंजाइश नहीं थी, इसलिए हॉकी व उसके खिलाड़ी उपेक्षित होते चले गये। सरमायादारों के राज में ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

जहाँ मुनाफे की हवस ने सैकड़ों राग-रागनियों को पश्चिमी धूम-धड़ाके के शोर में डुबा दिया, जिसके कारण कितनी ही जनजातियाँ आज विलुप्त होने के कगार पर हैं, अस्सी फीसदी लोगों को जिसने ऐसी लाचारी में धकेल दिया कि खेल-कूद की तो बात ही क्या, दो जून की रोटी जुटाने में ही उनका बूँद-बूँद खून निचुड़ जाता है, वहाँ किसे फुरसत है कि हॉकी का मातम मनाये? लेकिन जिन आँखों में नयी दुनिया के ख्वाब हैं, वे इस धरती को यहाँ की जिन्दगी और संस्कृति को नये रूपों में लेंगे, हॉकी, वालीबॉल, कबड्डी, और कुश्ती जैसे उपेक्षित और गरीब खेलों से जुड़े खिलाड़ियों और पूरी नौजवान पीढ़ी को खेल के अधिकार को मौलिक अधिकार बनाने की लड़ाई में शामिल होना होगा। यह लम्बी, कठिन और धैर्यपूर्ण संघर्ष की माँग करता है और पूरी तरह इस ख्वाब की ताबीर तो सरमायादारी और मुनाफाखोरी की कब्र पर ही मुमकिन है।

भारतीय क्रिकेट थैलीशाहों की गिरफ्त में

❑ अमरपाल

भारतीय क्रिकेटरों ने खुद को एक तड़क-भड़क वाले माल की तरह नीलाम करने की इजाजत देकर, इस खूबसूरत खेल को हमेशा-हमेशा के लिए शर्मसार कर दिया।

...नीलामी की बदनुमा कार्रवाई के जरिये इस शानदार खेल को बेहूदा, बेआबरू और बाजारू बनाकर इसे रुपये-पैसे की गुलामी में तब्दील कर दिया गया। इसके चलते खेल के खुशनुमा मैदान से जुड़ी तहजीब और खूबी को सौदागरी, बदकारी के जरिये नापाक और गन्दा कर दिया गया।

... इस खेल को बदनाम करने वाले इन भाड़े के टट्टुओं का बायकॉट करो!

आज क्रिकेटर! कल मन्त्री, सांसद, नौकरशाह और पढ़े-लिखे पेशेवरों की सरेआम नीलामी होगी!

बी° आर° औष्णा अय्यर

पूर्व न्याया ाीश सर्वोच्च न्यायालय

20 नवरी 2008 को मुम्बई के ''हिल्टन टावर्स'' में एक ऐसा समारोह आयोजित हुआ जिसके बारे में पहले सोचा भी नहीं जा सकता था। मौका था इण्डियन प्रीमियम लीग द्धआई० पी० एल०ऋ में खेलने वाली आठ क्रिकेट टीमों के लिए खिलाड़ियों के चुनाव का टीमों का गठन ''खुली नीलामी'' के जरिये खिलाड़ियों को खरीदकर किया गया। देश के आठ थैलीशाह नीलामी स्थल पर रुपयों की गठरी लेकर बैठे थे। एक-एक कर क्रिकेट खिलाड़ियों को नीलामी के चबूतरे पर खड़ा करके उनकी बोली लगायी जा रही थी। जिसकी गठरी जितनी भारी, उतनी ऊँची बोली। इस आयोजन की चमक-दमक और खेल के इतिहास में पहली बार खिलाड़ियों की खुली नीलामी से क्रिकेट प्रेमी हैरान थे। पशु मेलों में होने वाली गाय-भैंसों की नीलामी की तरह 80 खिलाड़ियों बोली लगा-लगाकर खरीदा गया।

k भारतीय क्रिकेट कन्ट्रोल बोर्ड द्धबी० सी० सी० आई०ऋ क्रिकेट का विकास, संचालन और नियन्त्रण करने वाली संस्था है। शुरू से ही पैसे की ताकत इसकी चालक शक्ति रही है। तभी तो इस देश का क्रिकेट बोर्ड विश्व की सर्वाधिक धनी खेल संस्थाओं में से एक है। अपने घरेलू क्रिकेट की एक शाखा के रूप में अब इसी ने आई० पी० एल० का निर्माण किया है। जिसमें देश के आठ बड़े शहरों मुम्बई, दिल्ली, कोलकाता, चेन्नई, बैंगलुरु, हैदराबाद, जयपुर और मोहाली के नाम पर आठ टीम बनायी गयी हैं। हर टीम का अधिकार देश के आठ अलग-अलग धन कुबेरों को बेचा गया है। मुम्बई, मुकेश अम्बानी की झोली में गयी, जबकि बैंगलुरु टीम विजय माल्या के, कोलकाता टीम शाहरूख खान के, मोहाली टीम प्रीति जिण्टा व नेश वाडिया के, चेन्नई टीम एन० श्री निवासन के, हैदराबाद टीम डेक्कन क्रोनिकल के, दिल्ली टीम जी० एम० आर० ग्रुप के और जयपुर टीम इमर्जिंग मीडिया ग्रुप के नाम कर दी गयी है।

सबसे महँगे खिलाड़ी के रूप में महेन्द्र सिंह धोनी 6 करोड़ रुपये में नीलाम हुए जिन्हें चेन्नई टीम के मालिक एन० श्री निवासन ने खरीदा। इसी तरह आस्ट्रेलिया के एण्ड्रयू साइमण्ड को 5 करोड़ 40 लाख रुपये में डेक्कन क्रोनिकल ने, इशान्त शर्मा को 3 करोड़ 80 लाख रुपये में शाहरूख खान ने, इरुान पठान को 3 करोड़ 70 लाख रुपये में प्रीति जिण्टा ने, श्री लंका के सनथ जयसूर्या को 3 करोड़ 45 लाख में मुकेश अम्बानी ने, जैक कालिस को 3 करोड़ 60 लाख में विजय माल्या ने, गौतम गम्भीर को 2 करोड़ 90 लाख रुपये में जी० एम० आर० ग्रुप ने और मोहम्मद कैफ को 2 करोड़ 70 लाख रुपये में इमर्जिंग मीडिया ने खरीद लिया। कुल मिलाकर 80 खिलाड़ियों की खरीद-बिक्री हुई। हर टीम मालिक अपनी टीम में चार विदेशी खिलाड़ियों को रख सकता है। सचिन तेन्दुलकर, सौरभ गांगुली, राहुल द्रविड़, विरेन्द्र सहवाग, युवराज सिंह जैसे पुराने खिलाड़ियों को टीमों के प्रतीक के रूप में खरीदा गया है। जिन्हें टीम के सबसे महँगे खिलाड़ी से 15 ाीसदी ज्यादा दाम मिले। इन सभी खिलाड़ियों की खरीद पर लगभग 200 करोड़ रुपया खर्च किया गया।

गौरतलब है कि खिलाड़ियों को मिली रकम उनकी एक साल की ही कीमत है। हर मालिक के साथ खिलाड़ी का तीन साल के लिए करार हुआ है। लेकिन इस दौरान अगर कोई दूसरी टीम, खिलाड़ी को पहले से ज्यादा पैसा देकर खरीदना चाहे तो वह पहली टीम से अपना करार तोड़ सकता है।

बी॰ सी॰ सी॰ आई॰ के उपाध्यक्ष ललित मोदी को आई॰ पी॰ एल॰ का अध्यक्ष बनाया गया है। यह संस्था केवल घरेलू प्रतियोगिताएँ आयोजित करेगी और इसके सभी मैच 20-20 मैच होंगे।

पिछले वर्ष जी ग्रुप और एस्सेल ग्रुप ने मिलकर क्रिकेट के बाजार में बी॰ सी॰ सी॰ आई॰ के एकाधिकार को तोड़ने के लिए इण्डियन क्रिकेट लीग द्धआई॰ सी॰ एल॰ऋ की स्थापना की थी। जिसने भारतीय क्रिकेट टीम में स्थान न पाने वाले खिलाड़ियों और अन्य देशों के क्रिकेट खिलाड़ियों को मोटी रकम का लालच देकर आकर्षित किया था। आई॰ सी॰ एल॰ ने पुराने खिलाड़ियों—कपिल देव, किरण मोरे, बलविन्द्र सिंह संधु, राजेश चौहान और संदीप पाटिल को इस काम की जिम्मेदारी सौंपी थी। आई॰ पी॰ एल॰ के बारे में बी॰ सी॰ सी॰ आई॰ प्रचारित करता है कि इससे क्रिकेट का विकास होगा और प्रतिस्पर्धा बढ़ने से खेल का स्तर ऊँचा उठेगा। लेकिन टीमों के गठन के तुरन्त बाद आई॰ पी॰ एल॰ के अध्यक्ष ललित मोदी के मुँह से इसका असली मकसद ूट पड़ा—

''हमने खेल की एक भी बॉल ेंकने से पहले 7200 करोड़ रुपये कमा लिये हैं। अलग-अलग पूँजीपतियों को आई॰ पी॰ एल॰ के टीमों के अधिकार बेचने से बी॰ सी॰ सी॰ आई॰ को 2894 करोड़ रुपये प्राप्त होंगे। इसके अलावा लगभग 4300 करोड़ रुपये विज्ञापन एवं प्रसारण अधिकारों की बिक्री से मिलेंगे। इन विज्ञापन एवं प्रसारण अधिकारों की बिक्री से प्राप्त 4300 करोड़ रुपये का 64 ीसदी हिस्सा द्ध2752 करोड़ रुपयेऋ टीम मालिकों को मिलेगा।

इसके अलावा मैचों की टिकट बिक्री और मैदान पर लगने वाले विज्ञापनों की आमदनी में भी टीम मालिकों को 64 ीसदी मिलेगा। सोनी इण्टरटेनमेण्ट टेलीविजन ने आई॰ पी॰ एल॰ के मैचों के प्रसारण अधिकार 3762 करोड़ रुपये में खरीदे हैं, साथ ही हर टीम मालिक को यह कम्पनी 22 करोड़ रुपये अलग से देगी।

सोनी ने विज्ञापन कर्ताओं के लिए समय की बिक्री का दाम 3 लाख रुपये प्रति 10 सेकण्ड रखा है। जनता के बीच लोकप्रियता बढ़ने पर वह रेट बढ़ाकर 5 लाख रुपये प्रति 10 सैकण्ड तक करने की सोच रहा है। जहाँ तक टीम मालिकों का सवाल है इस पूरे खेल में उनको बेहिसाब मुनाफा और शोहरत मिलने वाली है। लागत से कई गुना अधिक कमाई की पहले ही गारण्टी हो गयी है, साथ ही प्रतियोगिता के दौरान और उसके बाद भी हर आदमी की जुबान पर टीम मालिक कम्पनियों का नाम रहेगा। अपनी टीम के जरिये बिना एक कौड़ी खर्च किये, वे हमेशा प्रचार माध्यमों में छाये रहेंगे। जहाँ भी क्रिकेट की चर्चा होगी, वहाँ इसके मालिकों का नाम भी जरूर आयेगा, इससे मालिकों और कम्पनियों के माल की बिक्री में भारी बढ़ोत्तरी होना तय है।

अगर हम नीलामी में खिलाड़ियों को मिली रकम के बारे में ध्यान दें तो बी॰ सी॰ सी॰ आई॰ और टीम मालिकों के मन्सूबे और ज्यादा साफ होकर सामने आते हैं। सबसे ज्यादा बोली एक दिवसीय टीम के कप्तान महेन्द्र सिंह धोनी की लगी है। टीम मालिकों के इस आकर्षण का कारण उनकी खेल प्रतिभा नहीं, बल्कि विज्ञापन के बाजार में उनकी कीमत है। धोनी भारतीय क्रिकेट खिलाड़ी से कहीं ज्यादा एक ैशन िगर के रूप में सबसे महँगे मॉडल है। इसके ठीक विपरीत आस्ट्रेलियाई खिलाड़ी एण्ड्रयू साइमण्ड पिछली भारत-आस्ट्रेलिया सिरीज में अपनी आक्रमकता और मैचों के दौरान नस्ली टिप्पणियों के कारण बदनाम है तो क्या! नाम तो हुआ, के अन्दाज में एक खलनायक के रूप में छा चुके हैं। इसी कारण नीलामी में वे धोनी के बाद दूसरे नम्बर पर बिके। तीसरे नम्बर पर रहे गेन्दबाज इशान्त शर्मा भी आस्ट्रेलिया दौरे पर बेहतर प्रदर्शन करके एक हॉट िगर के रूप में सामने आये हैं। जबकि उन्होंने अब तक एक भी 20-20 मैच नहीं खेला है। इसके विपरीत 20-20 मैचों में सबसे ज्यादा विकेट लेने वाले उमर गुल को केवल 60 लाख रुपये ही मिले हैं। जाहिर है कि इन खिलाड़ियों का चुनाव उनकी खेल प्रतिभा के आधार पर नहीं बल्कि टीम मालिकों को विज्ञापन के द्वारा मुनाफा दिलाने की काबलियत के आधार पर किया गया है।

बी. सी. सी. आई. ने आई. पी. एल. के नियम कानून बनाने की जिम्मेदारी जिस खेल मैनेजमैण्ट कम्पनी को सौंपी थी, उसके चेयरमैन बालू न''यर का स्पष्ट कहना है कि ''हमने आई. पी. एल. का स्वरूप तैयार करने में टीम मालिकों के हितों को केन्द्र में रखा है''। इससे होने वाली आमदनी में

सबसे बड़ा हिस्सा टीम मालिकों को मिलेगा, जिसमें से चन्द टुकड़े उन्होंने खिलाड़ियों के सामने फेंके हैं।

बी. सी. सी. आई., पूँजीपतियों और क्रिकेट खिलाड़ियों की आपसी साँठगाँठ के चलते खेल के बाजारीकरण की इस ताजा घटना से व्यथित सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश वी. आर. कृष्णा अ"यर का जो उद्‌गार इस लेख की शुरुआत में दिया गया है, वह इस स्थिति को तीखेपन से बयान करता है। सटोरियों ने निश्चय ही खेल को तबाह करने और उसे नरक में पहुँचाने का बीड़ा उठा लिया है।

इस सब के बावजूद अगर हम इन मुक्त बाजारू सूरमाओ, इनके साथ गलबहियाँ डाले भारत सरकार और इनकी झूठन पर पलने वाले मीडिया के बहकावे में आकर, इन धनकुबेरों को खेल के शौकीन और खेलों के उ)ारक समझते हैं तो यह निहायत भोलापन है। आखिर ये सौदागर क्रिकेट के बजाय राष्ट्रीय खेल हॉकी की ओर नजर उठाकर क्यों नहीं देखते जहाँ 2007 की एशिया कप विजेता टीम के खिलाड़ियों को पुरस्कार राशि पाने के लिए भूख हड़ताल करनी पड़ती है? हॉकी पर ''चक दे इण्डिया'' फिल्म बनाकर पैसा और प्रसि) पाने वाले शाहरूख खान को क्या भारतीय हॉकी की जमीनी सच्चाई का पता नहीं?

अपनी मोहाली टीम के लिए एक खिलाड़ी को 4 करोड़ रुपये में खरीदने वाली प्रीति जिण्टा को पता भी है कि एशिया कप जीतने वाली टीम की हर महिला खिलाड़ी को केवल 25 हजार रुपये दिये गये। दरअसल पैसों के लालची इन लोगों का सरोकार केवल रुपया बटोरने से है।

टी. वी. चैनलों से जुड़े मीडियाकर्मी, खिलाड़ियों की इस नीलामी की घिनौनी कार्रवाई को ह"तों भारत में, खेलों और खिलाड़ियों की किस्मत पलट देने वाली घटना के रूप में प्रचारित करते रहे। लेकिन इसके कुछ ही महीने पहले कोरिया में भारत की महिला फुटबॉल टीम शून्य से भी कम तापमान में आधी बाजू की घटिया स्तर की टी शर्ट पहन कर ओलम्पिक का क्वालीफाइंग मैच खेल रही थी तब इस शर्मनाक घटना पर भारतीय मीडिया ने कोई ध्यान नहीं दिया।

भारत में क्रिकेट अंग्रेजों की गुलामी के दौर में पैदा हुआ। विजेताओं की नकल करने की प्रवृत्ति और उनकी चापलूसी में भारतीय अभिजात वर्ग ने भी इसे स्वीकार कर लिया। आजादी के बाद भी इस अमीर वर्ग की गुलाम मानसिकता बरकरार है। अन्य सभी खेलों के ऊपर क्रिकेट को तरजीह देने के पीछे भी शासक वर्गों की यही औपनिवेशिक मानसिकता जिम्मेदार रही है। उनके टुकड़खोर मीडिया ने भी इसमें उनका भरपूर सहयोग दिया है। 90 के दशक में कुछ खिलाड़ियों के सटेबाजों के हाथों बिकने की घटनाएँ सामने आयी थीं जिसे मीडिया ने जानबूझकर दबाया ताकि क्रिकेट के दर्शक वर्ग का मोह भंग ना हो। भारतीय मीडिया ने क्रिकेट को समाचारों के केन्द्र में ला दिया। इसके हर कदम पर पैसे और ग्लैमर को स्थापित किया। क्रिकेट के प्रति पूरे देश में एक सनक को पैदा किया। क्रिकेट से खेल भावना को निकालकर उसके रेशे-रेशे में पैसे को प्रतिष्ठित किया। यही कारण है कि पहले तो बात सिर्फ सटेबाजी और मैच फिक्सिंग तक थी लेकिन अब यह पूरा खेल ही मुनाफे के भूखे-भेड़ियों की गिर"त में चला गया है। सिक्कों की खनक से झूमने वाला भारतीय मीडिया, इस घटना को रंग-रोगन लगाकर पेश कर रहा है। इसका एक ही मकसद है, देश की जनता को क्रिकेट के नशे में डुबोकर भरपूर मुनाफा लूटा जाये।

खेल का यह बाजारीकरण हमारे नीति निर्माताओं के संकीर्ण स्वार्थों का परिणाम है। जहाँ भारत की आम जनता के लिए कोई जगह नहीं है। खुले बाजार के रहनुमा और उनके पत्तलचाट मीडियाकर्मी लगातार यह कोशिश कर रहे हैं कि पूरे देश पर खुदगर्जी की संस्कृति को थोप दिया जाये। समाज के सभी लोगों के बीच नफरत की दीवार खड़ी हो जाये और हर व्यक्ति अकेला हो जाये। उन एकांकी लोगों का केवल एक ही दोस्त हो, उनका टी. वी. सेट। वे चाहते हैं कि समाज का हर व्यक्ति अकेला अपने टी. वी. के सामने बैठकर, उनकी ऊल-जुलूल हरकतों को देखे और उनके विज्ञापनों से प्रभावित होकर अधिक से अधिक उनका माल खरीदे। उनकी कोशिश समाज पर एक ऐसी संस्कृति थोपने की है जिसमें हर आदमी की हैसियत उसके द्वारा इस्तेमाल किये जा रहे उपभोक्ता माल से तय हो, इन्सानी मूल्यों के लिए कोई स्थान न हो।

जब खिलाड़ियों की नीलामी हो रही थी तब आस्ट्रेलियाई खिलाड़ी एडम गिलक्रिस्ट ने कहा था कि ''शुरू में मुझे ऐसा लगा जैसे मैं एक गाय हूँ जिसे पशु पैंठ में बेचने के लिए लाया गया है। लेकिन जल्दी ही मैंने अपने ऊपर काबू पा लिया और खुद को माहौल के अनुसार ढाल लिया।'' गिलक्रिस्ट के इस बयान में सच्चाई है जब भी व्यक्ति कोई

गलत काम करता है तो उसकी अन्तरआत्मा उसे धिक्कारती है। परन्तु करोड़ों रुपयों के लालच में गिलक्रिस्ट ने अपने अन्तरमन की आवाज को दफन कर दिया और खुद को नीलाम कर दिया। सच है कि पूँजी अच्छे-भले लोगों को अन्तःकरण से शून्य, एक बिकाऊ माल में तब्दील कर देती है।

नयी उपभोक्तावादी संस्कृति के हमलावरों की कोशिश है कि हर इन्सान के अन्तरमन का कत्ल कर दिया जाये और अगर वह कहीं बच भी जाता है तो उसकी आवाज मुखर न हो, उसकी आवाज में विरोध का कोई स्वर न हो।

सरकार की जनविरोधी नीतियों के खिलाफ पिछले दशक से ही जनता में विरोध के स्वर उठ रहे हैं। सरकार की कोशिश है कि एक सामाजिक नशे के रूप में क्रिकेट का इस्तेमाल करके जनता को इसकी खुमारी में डुबो दिया जाये। इसके लिए क्रिकेट को हर तरह की रंगीनियाँ प्रदान करना और हर नागरिक को इसका दीवाना बना देना जरूरी है। वे चाहते हैं कि अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में लगातार शोषण उत्पीड़न और असन्तोष का शिकार, आम आदमी टी. वी. के सामने बैठकर अपने तमाम दुख-दर्द और गुस्से को क्रिकेट के नशे में डुबो दे और गुस्से से तनी हुई कोई उंगली सरकार की तरफ न उठे।

आई. पी. एल. का गठन नये भारत के रहनुमाओं की लूट को निर्बाध रूप से जारी रखने और समाज में इन्सानी मूल्यों के स्थान पर बाजारू मूल्यों को स्थापित करने के लिए उठाया गया कदम है।

क्रिकेट के शोरगुल और जीत-हार के हंगामे में खो जाने से पहले, देश की युवा पीढ़ी को यह सोचना चाहिए कि देश में सच्चे खेल मूल्यों की स्थापना कैसे हो? लेकिन इसके साथ ही न्यायमूर्ती वी. के. कृष्णा अ"यर के इस आह्वान पर भी गौर करना चाहिए–''इस खेल को बदनाम करने वाले इन भाड़े के ट्टटुओं का बायकॉट करो। ❑

मैं नहीं चाहता

सड़े हुए फलों की पेटियों की तरह
बाजार में एक भीड़ के बीच मरने की अपेक्षा
एकान्त में किसी सूने वृक्ष के नीचे
गिरकर सूख जाना बेहतर है।

मैं नहीं चाहता कि मुझे
झाड़-पोंछकर दूकान पर सजाया जाय,
दिन-भर मोल-तोल के बाद
फिर पेटियों में रख दिया जाय,
और एक खरीदार से
दूसरे खरीदार की प्रतीक्षा में
यह जीवन अर्थहीन हो जाये।

–सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

भगत सिंह का भगवाकरण : पांचजन्य को खुला पत्रा

महोदय,

सबसे पहले मैं आपको बहुत-बहुत धन्यवाद देना चाहता हूँ कि आपने शहीद भगत सिंह पर विशेषांक प्रकाशित किया। आपका उद्देश्य कुछ भी हो, आपके इस अंक ने भगत सिंह के लिखे एक लेख और एक पत्र को हजारों लोगों तक पहुँचाया। हमें खेद है कि आज तक 'भगत सिंह मात्र एक देशभक्त नहीं बल्कि एक चिन्तक भी थे' इस बात को करोड़ों भारतीय नहीं जानते। भगत सिंह की इस जन्मशती के मौके पर हम अपनी तरु से पुरजोर कोशिश कर रहे हैं कि उनका वैचारिक पक्ष ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुँचे। हमारी इस कोशिश में आपके इस अंक ने अमूल्य योगदान दिया है। एक बार फिर से धन्यवाद!

आपके अंक की पूरी कोशिश है कि यह साबित किया जाये कि भगत सिंह कम्युनिस्ट और नास्तिक नहीं थे। यह साबित करने के लिए आपके लेखकों ने भगत सिंह के 'मैं नास्तिक क्यों हूँ?' का बार-बार हवाला दिया है। और बड़ी खूबी के साथ भगत सिंह के लेखों के उ)रणों को तोड़-मरोड़ कर इस्तेमाल किया है। लेकिन कोई भी सामान्य बु) का आदमी यह सोचने पर मजबूर हो जायेगा कि जब भगत सिंह नास्तिक नहीं थे तो उन्होनें ऐसे शीर्षक से लेख लिखा ही क्यों? आपके एक लेखक महोदय श्रीमान् दिनेश शर्मा लिखते हैं : 'अगर भगवान के प्रति आस्था और प्यार स्वाभाविक है तो भगवान के प्रति नाराजगी भी उतनी ही स्वाभाविक है' क्या उन्होंने भगत सिंह को दीवार फिल्म के अमिताभ जैसा नास्तिक समझा है जो भगवान पर अपनी भड़ास निकाल रहा हो?

भगत सिंह ने अपने लेख के अन्तिम पक्ष में ही स्पष्ट कर दिया है कि 'ईश्वर की उत्पत्ति के बारे में मेरा अपना विचार यह है कि मनुष्य ने अपनी सीमाओं, दुर्बलताओं और कमियों को समझने के बाद परीक्षा की घड़ियों का बहादुरी से सामना करने, खुद को उत्साहित करने, सभी खतरों को मर्दानगी के साथ झेलने और सम्पन्नता और ऐश्वर्य में उसके विस्फोट को बाँधने के लिए ईश्वर के काल्पनिक अस्तित्व की रचना की।'

आपके दूसरे लेखक महोदय श्री इरविन खन्ना लिखते हैं : 'भगत सिंह का मानवीय पक्ष इतना मजबूत था कि वह मानव के दुखों को देखकर भगवान के अस्तित्व को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। लेकिन मात्र इस कारण भगत सिंह को नास्तिक कहना उचित नहीं होगा क्योंकि भगत सिंह नारायण के स्वरूप नर के बुनियादी अधिकारों के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर गये।' महोदय संसार के तमाम नास्तिक चिन्तक 'नर' के हितों के पक्षधर होने के कारण ही भगवान के अस्तित्व के झूठ के बारे में बोलते रहते हैं, नहीं तो वे खुद तो उसके न होने के बारे में आश्वस्त होते ही हैं। इस तर्क से तो तमाम नास्तिक चिन्तक आस्तिक हो जाते हैं। आपको जब यह बातें सि) करनी ही थीं तो आपको भगत सिंह का 'मैं नास्तिक क्यों हूँ?' बिना काट-छाँट के छाप देना चाहिए था और अपने पाठकों के विवेक पर थोड़ा सा विश्वास कर, उन्हें तय करने देना था कि भगत सिंह नास्तिक थे या नहीं।

इसी तरह उनका कम्युनिस्ट न होना सि) करने पर आपने जो कुतर्क पेश किये हैं, उनकी जितनी तारीफ की जाए कम है। आपके अंक में आप भगत सिंह का दिल्ली सेशन कोर्ट में 6 जून, 1929 को दिया बयान छाप देते तो अच्छा होता। अगर जगह की कमी थी तो उस बयान के हिस्से को ही छाप देते जिसमें भगत सिंह ने 'क्रान्ति से उनका क्या अभिप्राय है' इसका जिक्र किया है। वह इस तरह है :

क्रान्ति से हमारा अभिप्राय है अन्याय पर आधारित मौजूदा समाज व्यवस्था में आमूल परिवर्तन, समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मजदूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मोहताज हैं। दुनिया भर के बाजारों को कपड़ा मुहैया करने वाला बुनकर अपने और अपने बच्चों के तन ढकने भर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करने वाले राजगीर, लोहार और बढ़ई खुद गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवनलीला खत्म कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति जरा-जरा सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं। यह भयानक असमानता और जबरदस्ती लादा गया भेदभाव, दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। सभ्यता का यह प्रासाद यदि समय रहते सम्भाला नहीं गया तो जल्दी ही चरमराकर बैठ जायेगा। देश को एक आमूल परिवर्तन की जरूरत है और जो लोग इस बात को महसूस करते हैं उनका कर्त्तव्य है कि साम्यवादी सि)ान्तों पर समाज का पुनर्निर्माण करें। जब तक यह नहीं किया जाता और मनुष्य

द्वारा मनुष्य और राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण जो साम्राज्यशाही के नाम से विख्यात है, खत्म नहीं कर दिया जाता तब तक मानवता को उसके क्लेशों से छुटकारा मिलना असम्भव है। और तब तक यु)ों को खत्म कर विश्व शान्ति के युग का प्रादुर्भाव करने की सारी बातें महज ढोंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

भगत सिंह पर आपके 'भगवा' विचारों का प्रभाव होने की बात को सि) करने के लिए आपने जो हथकण्डे अपनाये हैं वह भी काबिल-ए-तारीफ है। 'मेरा रंग दे बसंती चोला' का मनमाना अर्थ लगाना, डॉ. हेडगेवार और श्री गोलवलकर गुरुजी की तस्वीरों के साथ भगत सिंह की तस्वीर छापना, भाषा के सन्दर्भ में गुरुजी और भगत सिंह के विचारों में समानता दिखाना और भगत सिंह का डॉ. हेडगेवार से सम्पर्क होने की बात कहना। लेकिन भगत सिंह अपने विचारों के बारे में खुद क्या लिखते हैं, उसका कहीं भी जिक्र नहीं करना आदि।

श्री गोलवलकर गुरुजी का प्रभाव भगत सिंह पर होने का या उनका कोई सम्पर्क भी होने का सवाल ही नहीं उठता क्योंकि भगत सिंह की शहादत तक गोलवलकर गुरुजी का सामाजिक पटल पर उदय ही नहीं हुआ था। जहाँ तक साण्डर्स की हत्या पर सन्तोष व्यक्त करने वाली बात है, उससे भगत सिंह के उस कृत्य से गुरुजी प्रभावित थे, ऐसा मालूम होता है। न कि उल्टा और वह बात भी विद्यार्थी दशा में अपने मित्र श्री बाबूराव तेलंग को लिखे पत्र में उन्होंने कही थी। किसी सार्वजनिक सभा में या लेख में नहीं। उल्टा बाबूराव तेलंग द्वारा यह बात औरों को बताने पर गुरुजी ने अपने 24 जनवरी, 1929 के अगले पत्र में आपत्ति जताई। उन्होंने लिखा :'लालाजी की हत्या के प्रतिशोध के सन्दर्भ में मेरा कहना आप औरों को बतायेंगे ऐसा मुझे लगा नहीं था। वहाँ कुछ विद्यार्थी, गुप्तचर विभाग के लिए काम करते हैं। गलती से भी 'विश्व बन्धुत्व के बारे में बोलने वाला गोलवलकर भी इस तरह कहता है' ऐसा आप न कहें, इसलिए सावधानी बरतने की सूचना आपको दी थी। द्धसमग्र श्री गुरुजी द्धमराठीऋ खंड 6, पेज 187ऋ इसलिए जिस 'धन्य धन्य अनेक बार धन्य' की बात आपने कही है वह एक व्यक्तिगत प्रतिक्रिया मात्र है।

जहाँ तक डॉ. हेडगेवार का भगत सिंह से मिलने का सवाल है यह बात सम्भव है। कारण कि भगत सिंह हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातान्त्रिक सेना गठित करने के सिलसिले में बंगाल के अनुशीलन समिति के लोगों से मिले थे। इसके साथ डॉ. हेडगेवार का पुराना सम्बन्ध रहा है। द्धडॉ. हेडगेवार–ना. ह. पालकर, पेज 39 और 41ऋ लेकिन उनके नाम का जिक्र भगत सिंह के उपलब्ध 72 दस्तावेजों या जेल डायरी या उनके साथियों के लेख में भी कहीं नहीं मिलता। इसके विपरीत आपके परिवार के हमारे देश के गत वैभव की बातों में उलझकर रहने वाले नेताओं के सन्दर्भ में भगत सिंह लिखते हैं :

'जो पीछे वेदों के जमाने की ओर देख रहे हैं, उनसे मेरा यह कहना है कि यह तो सोचा भी नहीं जा सकता कि वह युग वापस लौट आयेगा। वास्तविक दुनिया पीछे नहीं लौट सकती, काल्पनिक दुनिया को चाहे कुछ दिन यहीं स्थिर रखो।'

श्री विनायक दामोदर सावरकर की किताब पढ़ने का जहाँ तक सवाल है तो भगत सिंह ने दुनिया के हर विचार की किताबें पढ़ीं जो उनको मिल पायी। इसका मतलब यह नहीं कि वे उन सभी से प्रभावित थे। श्री सावरकर का जिक्र भगत सिंह द्वारा मदन लाल धींगरा पर लिखे लेख में आता है। भगत सिंह उस समय के सभी नेताओं की बातें बड़े ध्यान से सुनते-पढ़ते थे। उनका जहाँ भी जिक्र हो अत्यन्त आदर के साथ जिक्र करते थे। लेकिन उनके विचारों का बड़ी निर्ममता से तार्किक विश्लेषण करते थे। इसलिए वे किसी से मिले या उनकी किताबें पढ़ी, इससे यह नहीं साबित होता कि उनके विचारों से भगत सिंह प्रभावित थे।

कम्युनिस्टों द्वारा भगत सिंह की शहादत के अपहरण की आप बात करते हैं तो जनाब भगत सिंह की शहादत के चालीस साल बाद तक उनके विचार प्रकाशित नहीं हुए थे तब आपके परिवार ने यह पहल क्यों नहीं की? आपके चिन्तकों ने कभी भगत सिंह के बारे में जिक्र तक क्यों नहीं किया? गुरुजी द्वारा देश के अनेक नेताओं को आदरान्जलि अर्पित की गयी है। द्धसमग्र श्री गुरुजी का खण्ड 1, जिनमें से कुछ को तो आपका परिवार गाहे-बगाहे गालियाँ भी देता रहता हैऋ जिनकी संख्या पचास के करीब है। उनमें भगत सिंह या उनके साथियों में से किसी का नाम तक नहीं है। अभी भी समय नहीं गया है इस जन्मशताब्दी वर्ष में आप भगत सिंह का समग्र लेखन भारत की विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित कर अपनी आदरान्जलि अर्पित कर सकते हैं। लेकिन आप ऐसा करेंगे नहीं। आपको भगत सिंह के विचारों से कोई लेना-देना नहीं। आपको तो बस उनकी लोकप्रियता को भुनाना है। फिर चाहे उसके लिए इतिहास की तोड़-मरोड़ ही क्यों न करनी पड़े। यह तो आपके बायें हाथ का खेल रहा है।

(फिलहाल से साभार)

दलित छात्रों को शिक्षा से वंचित करने की एक और साजिश

❑ राजकुमार

हाल ही में केन्द्र सरकार द्वारा अनुसूचित जाति के छात्रों की छात्रवृत्ति में कटौती के प्रस्ताव के खिलाफ देश के विभिन्न हिस्सों में छात्रों का गुस्सा फूट पड़ा। केन्द्र सरकार ने प्राईवेट शिक्षण संस्थानों के व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश लेने वाले छात्रों को छात्रवृत्ति देने के लिए 60 फीसदी अंक पाना अनिवार्य कर दिया है। अभी तक इस छात्रवृत्ति को प्राप्त करने के लिए छात्र का पास होना ही पर्याप्त था। 'फी सीट' पर प्रवेश लेने वाले दलित छात्रों की छात्रवृत्ति को भी सीमित करने का प्रस्ताव है।

देश के विभिन्न राज्यों में मुख्य रूप से महाराष्ट्र, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और केरल में तमाम दलित छात्रों ने इस निर्णय के खिलाफ विरोध प्रदर्शन और रैलियाँ आयोजित की है।

चेन्नई में राज्य सचिवालय के सामने सलेम से आये प्रदर्शनकारियों में से दो ने आत्मदाह करने की कोशिश भी की। उत्तेजित छात्रों ने केन्द्रीय सामाजिक न्याय और रोजगार मन्त्रालय द्वारा जारी विवादास्पद आदेश की प्रतियाँ भी जलाई।

महत्तवपूर्ण बदलाव–27 सितम्बर 2007 का आदेश कहता है कि भारत सरकार ने अनुसूचित जातियों के छात्रों को मिलने वाली मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्ति को कुछ बदलावों के साथ 11वीं पंचवर्षीय योजना द्ध2007-08 – 2011-12ऋ में भी जारी रखने का निश्चय किया है। छात्रवृत्ति योजना में बदलाव है–द्धअऋ यदि सरकारी या प्राईवेट संस्थानों के व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में कोई दलित छात्र 'फी सीट' पर प्रवेश लेता है तो उसे छात्रवृत्ति योजना का लाभ नहीं मिलेगा। द्धबऋ प्राईवेट संस्थानों में प्रवेश के सम्बन्ध में छात्रवृत्ति का लाभ पाने के लिए छात्र को 12वीं कक्षा में 60 फीसदी अंक लाने अनिवार्य होंगे।

अनुसूचित जातियों की छात्रवृत्ति को लेकर मुख्यमन्त्री मायावती, करुणानिधि तथा स्वास्थ्य मन्त्री रामदास ने अपना विरोध प्रकट किया। वाम पार्टियों सहित अधिकांश पार्टियों के नेताओं, दलित संगठनों, छात्र संगठनों आदि ने छात्रवृत्ति योजना में हुए बदलावों को वापस लेने की माँग रखी। इनमें से कुछ ने तमिलनाडु के मुख्यमन्त्री एम. करुणानिधि से अपील की कि वे केन्द्र सरकार पर इस प्रस्ताव को वापस लेने के लिए दबाव डालें। करुणानिधि ने 31 जनवरी को विधान सभा में बताया कि उन्होंने केन्द्र सरकार को 60 फीसदी अंकों की अनिवार्यता के प्रस्ताव को वापस लेने का सुझाव दिया है। हालाँकि उन्होंने यह भी कहा कि इस निर्णय को लागू करके सरकार दलित एवं आदिवासी छात्रों की रही-सही सुविधाओं में भी कटौती कर रही है और उस बचे हुए पैसे को अभिजातों पर खर्च करना चाहती है। व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में शोषित-पीड़ित वर्गों के छात्रों की संख्या पहले ही निराशाजनक थी, सरकार का यह निर्णय उन्हें हाशिये पर धकेल देगा। इसके बजाय कि सरकार प्राईवेट संस्थानों पर अंकुश लगाये, कम से कम प्रवेश एवं ट्यूशन फीस के मामले में उन पर नियन्त्रण कायम करे, सरकार उनमें गरीबों के प्रवेश को बाधित कर रही है।

उच्च शिक्षण एवं व्यावसायिक संस्थानों में प्रवेश से आदिवासी छात्रों को रोककर सरकार उन्हें रोजगार के बेहतर अवसरों से वंचित करना चाहती है। जब स्नातक और परास्नातक नौजवान भी रोजगार पाने में असमर्थ हैं तो दलित छात्रों को मैट्रिक के बाद पढ़ाई छोड़ने को बाध्य कर रही है।

हमारे देश में जातीय विभाजन अन्यायपूर्ण और अनर्थकारी है जबकि दुनिया में कहीं ऐसी व्यवस्था नहीं है। योजना आयोग से सम्ब) बाल चन्द मुंगेरकर ने जाति व्यवस्था को उच्च जातियों के लोगों के लिए दैविय विशेषाधिकार माना है जो उन्हें शिक्षा, कृषि, व्यवसाय, उद्योग, व्यापार आदि में विशेष अधिकार दिलाती है जिसके चलते वे भरपूर आनन्द लूटते हैं। दूसरी तरु निम्न जाति के लोगों के लिए यह प्राकृतिक आपदा है क्योंकि उनके हिस्से निम्न श्रेणी के काम ही आते हैं। मुंगेरकर ने एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में 'दलित मानवाधिकार' पर प्रस्तुत अपने शोधपत्र में बताया था कि दलितों के सामने निम्न श्रेणी के कामों के अलावा कोई अवसर नहीं होता और उनकी बुनियादी जरूरतों पर अप्रत्यक्ष

प्रतिबन्ध होते हैं जिससे वे एक निश्चित आय से वंचित हो जाते हैं। इसके अलावा सवर्ण जातियाँ उनके काम को हेय दृष्टि से भी देखती हैं क्योंकि जाति व्यवस्था के हाशिये पर पड़े दलित पूर्ण रूप से सवर्णों पर निर्भर हैं। जाति व्यवस्था ने उन्हें सामाजिक रूप से बहिष्कृत, आर्थिक रूप से पराश्रित और राजनैतिक रूप से शक्तिहीन बना दिया है। मुंगेरकर लिखते हैं कि दलितों के भयानक कष्टों का एक मात्र कारक अछूतों को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखना है। सदियों की अस्पृश्यता ने उनके जीवन पर भयानक प्रभाव डाला है। घोर असमानतावादी समाज में, जो मुख्य रूप से जाति और वर्गों में परत दर परत विभाजित है, शिक्षा दलितों के उत्थान का रास्ता है।

आज भारत में दलितों की संख्या 16.66 करोड़ है जो कि कुल जनसंख्या का 16.2 ीसदी है। सदियों से उत्पीड़ित एवं शिक्षा से वंचित ये लोग अब संगठित हो गये हैं और समाज में अपने अधिकार और सम्मानजनक स्थान पाने के लिए दृढ़ संकल्प हैं। परन्तु उन्हें अभी लम्बी दूरी तय करनी है और ढेर सारी बाधाएँ पार करनी है। लगभग 60 ीसदी दलित भूमिहीन खेतीहर मजदूर हैं और उनमें से 50 ीसदी गरीबी रेखा से नीचे जिन्दगी गुजारते हैं। जहाँ गैर-दलितों के 61 ीसदी घरों में बिजली है, वहीं दलितों के मात्र 31 ीसदी घरों तक बिजली पहुँची है और सिर्फ 10 ीसदी घरों को पीने का साफ पानी मिलता है।

भारतीय संविधान के अनुसार राज्यों को आजादी के बाद के 10 वर्षों में 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को मु"त और अनिवार्य सार्वभौमिक शिक्षा उपलब्ध करानी थी और उनकी आर्थिक बेहतरी के लिए विशेष देखभाल और प्रयास करने थे। परन्तु निर्धारित समय के 50 साल गुजर जाने के बाद भी शिक्षा की स्थिति दयनीय बनी हुई है।

अपनी कमजोर आर्थिक स्थिति के कारण 99 ीसदी दलित छात्र उन सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं जिनमें से अधिकांश के पास बुनियादी ढाँचा भी नहीं होता। दलित लड़कें एवं लड़कियाँ निम्न और दमनकारी स्थितियों में पढ़ने को मजबूर हैं। अधिकांश स्थानों पर शिक्षक दलित छात्रों के प्रति जातीय पूर्वाग्रहों से ग्रसित एवं भेदभावपूर्ण व्यवहार करते हैं जैसा कि दलित छात्रों की शिकायतें आती हैं। यद्यपि दलित छात्रों की एक बड़ी संख्या अच्छे अंक हासिल करती है और वे 'ओपन कोटा' के तहत व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में चुने भी जाते हैं, लेकिन धन की कमी के कारण प्रवेश से वंचित रह जाते हैं। इसे केरल की एक घटना से समझा जा सकता है। केरल की एक दलित छात्रा व्यावसायिक पाठ्यक्रम की प्रवेश परीक्षा में उच्च रैंक के साथ पास करने के बाद भी प्रवेश से वंचित रही, कारण था धन की कमी। बैंकों ने गारण्टी के अभाव में उसे शिक्षा ;ण नहीं दिया। परिणामस्वरूप उस मेधावी छात्रा ने अपने सपनों के साथ अपना भी गला घोंट लिया।

2007 में, इन्जीनियरिंग कॉलेजों में सैकड़ों सीटें इसी कारण खाली रही जिसे बाद में अन्य वर्ग के छात्रों को एलॉट कर दिया गया। अनेक दलित महँगे कोचिंग एवं स्पेशल ट्यूशन का खर्च वहन नहीं कर सकते और वे अपनी विशु) इच्छा शक्ति के बल पर आगे बढ़ते हैं।

सरकार द्वारा छात्रवृत्ति योजना में किये गये बदलाव भी अन्यायपूर्ण हैं। यह दलित और आदिवासी छात्रों को शिक्षा की रही-सही सम्भावना से वंचित करने की घिनौनी-साजिश है। यह सरकार शोषित-पीड़ित जनता की घृणा और आक्रोश के ही काबिल रह गयी है। ु

...जब तुम एक इन्सान को पीने के लिए पानी देने से भी इन्कार करते हो, जब तुम उन्हें स्कूल में भी पढ़ने नहीं देते तो तुम्हें क्या अधिकार है कि अपने लिए अ िक अधिकारों की माँग करो? जब तुम एक इन्सान को समान अधिकार देने से भी इन्कार करते हो तो तुम अधिक राजनीतिक अधिकार माँगने के कैसे अधिकारी बन गये?

–भगत सिंह

रामास्वामी पेरियार का शहीद भगत सिंह के प्रति नजरिया

❑ एस. इरफान हबीब

9 अप्रैल 1929 के असेम्बली बम काण्ड के तुरन्त बाद ही भगत सिंह एक राष्ट्रीय नायक बन गये थे। इससे पहले पंजाब के आसपास के इलाकों में नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं के बीच, वे एक विचारशील युवा राष्ट्रवादी के रूप में जाने जाते थे। हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन द्धएच.एस.आर.ए.ऋ के भूमिगत घेरे में भी वे एक लोकप्रिय सि)ान्तकार के रूप में उभर चुके थे। लेकिन फिर भी, 9 अप्रैल की उस साहसिक कार्रवाई ने ही उन्हें राष्ट्रीय ख्याति की ऊँचाई तक पहुँचाया था।

अदालत में इस मुकदमें की सुनवाई की पूर्व निर्धारित योजना के मुताबिक ही एच. एस. आर. ए. की विचारधारा और कार्यक्रम को भारतीय जनता तक पहुँचाने और उन्हें प्रभावित करने के लिए इस्तेमाल किया गया। जेल से उनकी रचनाएँ गुप्त रूप से बाहर लायी गयीं और राष्ट्रीय अखबारों ने उन्हें प्रकाशित किया। 23 मार्च 1931 को भगत सिंह की शहादत के बाद भारी पैमाने पर लोगों ने अंग्रेजी हुकूमत की भर्त्सना की। अपने छोटे से जीवन में उन्होंने जिस राजनीति की नुमाइन्दगी की, उसे लोगों का भरपूर समर्थन मिला।

ऐसी ही एक अत्यन्त सुस्पष्ट और तीखी प्रतिक्रिया उस दौरान सुदूरवर्ती तमिल साप्ताहिक कुदी अरासु में 29 मार्च 1931 को पेरियार इ. बी. रामास्वामी द्वारा लिखित सम्पादकीय में देखने को मिलती है। उन्हें बचाने में अक्षम रहे गाँधी और काँग्रेस की आलोचना के साथ-साथ पेरियार ने युवा भगत सिंह को अपने ऐसे सहयोगी के रूप में देखा जो तर्कशीलता के पक्ष में खड़ा हुआ और जिसने जातिगत उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठाई। अपने लेख की शुरुआत उन्होंने इस तरह की–''कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो भगत सिंह की ग़ाँसी से शोक-संतप्त न हुआ हो। कोई भी ऐसा नहीं जिसने उनको ग़ाँसी देने वाली सरकार की भर्त्सना न की हो।'' ये पंक्तियाँ एक राष्ट्रीय नायक के रूप में भगत सिंह की व्यापक स्वीकृति को दर्शाती हैं। पंजाब की सीमा से बहुत आगे और सबसे बड़ी बात यह है कि इतने छोटे राजनीतिक जीवन में ही, उनकी जो छवि उभरी, उसे ऐतिहासिक दस्तावेजों की छानबीन और उसकी व्याख्या करके जीवनी लिखने वाले विद्वानों ने नहीं बनाया था।

पेरियार ने भगत सिंह के विचारों को पुरजोर तरीके से रखते हुए आगे कहा कि ''अगर भगत सिंह दृढ़ता और गम्भीरता के साथ इस नतीजे तक पहुँचे थे कि उनके सभी सि)ान्त सही हैं और जो तरीका वे अपना रहे हैं वह न्याय संगत है तो निश्चय ही वे खुद वैसा ही करते जैसा कि उन्होंने किया। **...हमारी यह पक्की राय है कि भारत में सिर्फ भगत सिंह के विचारों की ही जरूरत है।'' वे साफ तौर पर जानते थे कि भगत सिंह के विचार समाजवाद और साम्यवाद की हिमायत करते थे।** अपनी राय के समर्थन में पेरियार ने भगत सिंह द्वारा पंजाब के गवर्नर को लिखे पत्र की दो पंक्तियों का हवाला दिया–''हमारा संघर्ष तब तक जारी रहेगा जब तक कम्युनिस्ट पार्टी सत्ता में आ नहीं जाती और जनता असमानता की स्थिति से मुक्त नहीं हो जाती। हमारी हत्या करके इसे रोका नहीं जा सकता। यह लड़ाई कभी खुले रूप में तो कभी गुप्त रूप में जारी रहेगी।''

भारत में बहुतेरे ऐसे लोग थे जो भगत सिंह द्वारा अदालत में दिये गये बयानों के समर्थक थे और निश्चय ही पेरियार भी उन्हीं लोगों में से एक थे।

6 जून 1929 के अपने मशहूर बयान में भगत सिंह ने कहा था कि ''इस सभ्यता की विराट इमारत को अगर समय रहते बचाया नहीं गया तो यह भहरा कर ढह जायेगी। इसलिए एक आमूल परिवर्तन जरूरी है और जिन लोगों को इस बात का एहसास है उनका यह कर्त्तव्य है कि समाजवाद की बुनियाद पर इस समाज का पुनर्गठन करें। अगर ऐसा नहीं किया गया, आदमी द्वारा आदमी और राष्ट्रों द्वारा राष्ट्रों के शोषण का खात्मा नहीं किया गया तो आज मानवता के सामने जिस दुस्सह पीड़ा और नरसंहार का खतरा मण्डरा रहा है उसे रोका नहीं जा सकता।'' रामास्वामी पेरियार भी ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित थे तथा 1930 के दशक में वे औद्योगिक और खेती मजदूरों को बड़े पूँजीपतियों और जमीन्दारों के खिलाफ लड़ाई के लिए संगठित कर रहे थे। इस लड़ाई से उपनिवेशवादी सरकार गुस्से से भड़क गयी।

नतीजतन उसने कम्युनिस्ट पार्टी और अन्य समानधर्मा संगठनों को प्रतिबन्धित कर दिया।

उस सम्पादकीय को लिखते हुए शायद पेरियार इससे वाकि थे कि भगत सिंह भगवान में और दैवी चमत्कारों में विश्वास नहीं रखते थे, बल्कि वे एक आत्मविश्वास से भरपूर व्यक्ति थे। इस विषय पर भगत सिंह ने अपने एक अत्यन्त गहन लेख में विस्तार से लिखा था जिसका शीर्षक है–''मैं नास्तिक क्यों हूँ?'' यह उनके जेल के वर्षों में लिखा गया था। इस लेख में भगत सिंह ने जोशीले अन्दाज में अन्धविश्वास की भर्त्सना की थी और भावपूर्ण शैली में तर्कशीलता का समर्थन किया था। वे इस बात के कायल थे कि धर्म उन शोषकों के हाथ का औजार है जो अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए जनगण को हमेशा भगवान से डराते रहते हैं।

एच. एस. आर. ए. के क्रान्तिकारियों को यह एहसास था कि भूखे पेट लोगों के लिए नैतिकता, आदर्श और धर्म बेकार हैं और उसके लिए केवल भोजन ही भगवान है। पेरियार ने अपने सम्पादकीय में इस नजरिये की हिाजत की और लिखा कि ''ऐसे विचारों को मानना किसी भी कानून के तहत अपराध नहीं है। यदि यह किसी कानून के खिलफ भी समझा जाता है तो भी किसी को इससे डरने की जरूरत नहीं है क्योंकि हमें पूरा यकीन है कि उन सि)ान्तों का पालन करने से द्धजिसे भगत सिंह सही मानते थेऋ जनता को कोई हानि नहीं होगी या कोई नुकसान नहीं पहुँचेगा। ...हम इन सि)ान्तों को व्यवहार में उतारने का प्रयास कर रहे हैं।''

भगत सिंह न केवल साम्प्रदायिक और ूटपरस्त राजनीति के खिलफ थे बल्कि किसी खास जाति में जन्में लोगों को अछूत करार देने वाली भारतीय जाति व्यवस्था से भी वे फरत करते थे और उसका मजाक उड़ाते थे। उन्होंने अपने लेखों और बयानों में इस बात को जोरदार तरीके से रखा कि अगर एक मजबूत राष्ट्र का निर्माण करना है तो आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक सभी तरह के शोषण को खत्म करना होगा। अपने तरीके से इन विचारों को प्रतिध्वनित करते हुए, पेरियार ने उस साम्पादकीय में आगे लिखा कि छुआछूत को खत्म करने के लिए हमें ऊपरी और निचली जाति के सि)ान्त को खत्म करना होगा। इसी तरह गरीबी मिटाने के लिए हमें पूँजीवाद और मजदूरी के सि)ान्त से छुटकारा पाना होगा। इसलिए समाजवाद और साम्यवाद कुछ और नहीं, बल्कि इन अवधारणाओं और व्याख्याओं से निजात पाना ही है। यही वे सि)ान्त है जिनकी हिमायत भगत सिंह करते थे।'' पेरियार ने यह कहते हुए अपने सम्पादकीय का समापन किया कि ''जैसा कि आम तौर पर लोगों के साथ होता है, भगत सिंह न बीमार पड़े, न पीड़ित हुए और न ही मरे। उन्होंने न केवल भारत को बल्कि दुनिया को भी असली बराबरी और शान्ति की राह दिखाने के पवित्र उद्देश्य के लिए अपना जीवन निछावर किया। वे उन्नत शिखर तक पहुँच गये। इस कठिन काम को अंजाम देना आम तौर पर किसी के बस की बात नहीं।''

भगत सिंह के आदर्श और उनका सर्वोच्च बलिदान लाखों संघर्षरत लोगों को जीवन्तता प्रदान करने में समर्थ हैं। चे ग्वेरा की तरह ही भगत सिंह भी उन सभी लोगों के लिए प्रेरणा ोत बने रहेंगे जो धर्म-निरपेक्ष समाजवादी मूल्यों के प्रति समर्पित हैं और जो जाति आधारित ऊँच-नीच के समाज को खारिज करते हैं। ु

अप्रवासी भारतीयों की मक्कारी

महिलाओं के उत्पीड़न का एक नया रूप तेजी से सामने आया है। इस समय भात में अनिवासी भारतीय पुरुषों द्वारा छोड़ दी गयीं 15,000 महिलाएँ हैं। ज्यादातर घटनाओं में भारी दहेज लेकर शादी करने के कुछ समय बाद ही, ये परदेशी दूल्हे अपनी पत्नी को अपने हाल पर जीने के लिए छोड़कर विदेश भाग जाते हैं। सबसे ज्यादा चिन्ता की बात यह है कि अधिकतर मामलों में लड़की वालों के पास दहेज देने के दस्तावेज होने और मामला दर्ज कराने के बावजूद उन पर कोई कार्रवाई नहीं हुई है। पंजाब में ऐसी परित्यक्ताओं की संख्या बहुत अधिाक है। वहाँ ऐसी महिलाओं ने मिल-जुलकर इस स्थिति से निपटने के लिए हाल ही में एक संगठन बनाया है।

अमरीका में मन्दी और उसका प्रभाव

❑ विक्रम

दुनिया का सबसे बड़ा कर्जदार अमरीकी बैंक, सिटी बैंक लगातार घाटे से जूझ रहा है। जनवरी से मार्च 2008 में सिटी बैंक को 20 हजार करोड़ रुपये का नुकसान हुआ क्योंकि 48 हजार करोड़ रुपये का कर्ज बट्टा खाते में डालना पड़ा था। यह इस कम्पनी के 200 वर्षों के इतिहास में इतना बड़ा घाटा पहली बार हुआ। केवल इसी बात से पता चलता है कि अमरीका किस भयानक मन्दी की चपेट में है। पिछले साल ही कई दैत्याकार अमरीकी कम्पनियाँ घाटे और ताला-बन्दी के कगार पर पहुँच गयी। सन् 2007 में डॉलर के मूल्य में गिरावट और सब प्राइम संकट के कारण सिटी बैंक, मेरिल लीन्च और बीयर स्टर्न जैसे कई बड़े अमरीकी बैंकों को हजारों करोड़ रुपये का नुकसान हुआ। इसके चलते इन कम्पनियों के शीर्ष अधिकारियों को मजबूरन अपना पद छोड़ना पड़ा। सन् 2007 की तीसरी तिमाही में दैत्याकार अमरीकी निगमों के मुनाफे में 77,200 करोड़ रुपये की गिरावट आयी जबकि उनकी घरेलू कमाई में 1,68,800 करोड़ की कमी देखी गयी। अमरीका की पाँचवीं सबसे बड़ी कम्पनी वालमार्ट में निवेश करने वाले बीयर स्टर्न बैंक को बर्बाद होने से बचाने के लिए जे. पी. मोर्गन कम्पनी ने उसे अमरीकी सरकार के सहयोग से खरीद लिया।

इतना सब कुछ होते हुए भी, अमरीकी अर्थशास्त्रियों ने मन्दी को तब तक स्वीकार नहीं किया, जब तक उसने भयानक रूप नहीं ले लिया। अप्रैल 2008 के शुरुआत में ही अमरीका की चार विमान कम्पनियां एलोहा, चैम्पियन, ए. टी. ए. और स्काईबस बन्द होने के कगार पर पहुँच गयीं। विश्व बैंक के निदेशक राबर्ट जाईलिक ने अमरीकी मन्दी को स्वीकारते हुए कहा कि अमरीकी सबप्राइम बन्द पत्र संकट, यूरोप को भी अपनी चपेट में ले सकता है। जबकि भारत और चीन में मन्दी का कम असर होने पर जोइलिक का कहना था कि यह अमरीका के लिए अच्छा संकेत है क्योंकि अमरीकी उत्पाद की माँग इन्हीं देशों में है। फेडरल रिजर्व बैंक के प्रमुख ग्रीनस्पान ने कहा कि अमरीका पिछले 50 सालों की सबसे भयानक आर्थिक समस्या का सामना कर रहा है। ये वही ग्रीनस्पान हैं जिन पर आरोप है कि उन्होंने मन्दी पर पर्दा डालने का लगातार प्रयास किया लेकिन सच्चाई उनके सर चढ़कर बोल ही पड़ी।

20 मार्च 2008 को नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिगलिट्स ने कहा कि घरों के दाम गिरने से 20 लाख अमरीकी अपने बन्धक पत्रों को चुका नहीं सकते, इसलिए उन्हें अपने घरों से हाथ धोना पड़ेगा। बड़ी तेजी से बन्धक पत्रों के संकट ने पूरी वित्तीय प्रणाली को अपनी चपेट में ले लिया। साम्राज्यवादी अर्थशास्त्रियों द्वारा सच्चाई पर पर्दा डालने के बावजूद दुनिया के सामने अमरीकी मन्दी तब जाहिर हो गयी, जब एक अप्रैल 2008 को दुनिया के कई बैंकों और वित्तीय संस्थानों का कुल नुकसान 8,00,000 करोड़ रुपये तक पहुँच गया।

पूँजीवादी संकट या मन्दी क्या है?

मुक्त प्रतियोगिता के जमाने में अर्थात् 19वीं शताब्दी में मन्दी आने पर सामानों के दाम गिरने लगते थे जिसे मुद्रा अपस्फीति द्धडि" लेशनऋ तथा ऐसी मन्दी को ठहराव द्धस्टैगनेशनऋ कहा जाता था। पूँजीवादी व्यवस्था एक तरु मजदूरों का शोषण करके उनकी क्रयशक्ति घटाती जाती है। दूसरी तरु पूँजीपति मुनाफे की हवस में उत्पादन बढ़ाते जाते हैं जिससे आपूर्ति तेजी से बढ़ती जाती है और पूँजीपति का माल बिकना कम हो जाता है, अर्थव्यवस्था का यह ठहराव ही मन्दी है। चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था में माँग का सीमित होना अन्तर्निहित है, इसलिए मन्दी का आना भी अवश्यंभावी है। पूँजीपतियों की आपसी गलाकाटू प्रतियोगिता का परिणाम होता है–मन्दी के दौर में सामानों की कीमतों का गिरना, मजदूरों की छँटनी और फैक्ट्रियों में तालाबन्दी। दाम घटने से फिर संकट की क्षतिपूर्ति हो जाती थी और धीर-धीरे उत्पादन फिर पटरी पर आने लगता था।

लेकिन आज की मन्दी को इस क्लासिकीय परिभाषा से नहीं समझा जा सकता। आज के साम्राज्यवादी दौर में यह चिरस्थायी और ढाँचागत संकट का रूप ले चुका है। क्योंकि आज का युग मुक्त प्रतियोगिता का नहीं बल्कि मुठी भर बड़ी कम्पनियों की इजारेदारी का युग है। इसी कारण

से मन्दी का शिकार होते हुए भी ये कम्पनियां उत्पादों के दाम मे कमी न करके उल्टे कीमतें बढ़ा देती हैं क्योंकि कहीं से भी इन्हें चुनौती नहीं मिलती। इस तरह कृत्रिम उपायों से मन्दी पर पर्दा तो पड़ जाता है लेकिन हर बार वह और गहरे संकट को अन्दर ही अन्दर बढ़ाता रहता है।

महँगाई के बढ़ते रहने को मुद्रा स्फीति द्धइन्लेशनऋ और ऐसी मन्दी जिसमें आर्थिक संकट के होते हुए भी कीमतें घटने के बजाय आसमान छू रही हो, उसे ठहराव युक्त मुद्रास्फीति द्धस्टैग्फ्लेशनऋ कहते हैं। पिछले 15-20 सालों से एक तरु लगातार महँगाई के बढ़ने और दूसरी तरु विकसित देशों की विकास दर में अपेक्षाकृत ठहराव का कारण मौजूदा इजारेदार पूँजीवाद ही है।

मन्दी के दौर में भी मुनाफे को लगातार बढ़ाते रहने के लिए, इन कम्पनियों और उनके पहरुओं ने मुद्रस्फीति का सहारा लिया है। इसी के तहत कभी भी ये कम्पनियां पैट्रोल के दाम बढ़ा देती हैं जिससे सभी सामानों के दाम बढ़ जाते हैं। जनवरी 2007 के 60 डॉलर प्रति बैरल से जनवरी 2008 में 100 डॉलर प्रति बैरल पैट्रोल के दाम का हो जाना इन्हीं बातों को प्रमाणित करता है।

सबप्राइम बन्धक पत्रा त्रासदी

अमरीकी मन्दी के कारणों को लेकर तरह-तरह के विश्लेषण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। हम बारी-बारी से उनकी छानबीन करेंगे। साथ ही विश्व बैंक और अमरीकी फेडरल बैंक द्वारा सुझाये गये समाधान की हकीकत भी समझने की कोशिश करेंगे। निसन्देह आज की साम्राज्यवादी आर्थिक प्रणाली बहुत ही जटिल है, फिर भी जमीनी सच्चाई को स्वीकारते हुए और राजनीतिक अर्थशास्त्र की मौलिक बातों पर पकड़ बनाकर हम समस्या की जड़ तक पहुँच सकते हैं।

2002 के डॉटकाम बुलबुले की त्रासदी के बाद से ही अमरीका लगातार मन्दी की मार झेल रहा है। येन-केन-प्रकारेण वह मन्दी को टालता रहा जो आज अधिक भयानक रूप में मुँह बाये खड़ी है। इस बार का संकट अमरीकी मकान बन्धक पत्र का बुलबुला फूटने से गहराया। ऋण न अदा कर पाने के कारण लगभग 13 लाख अमरीकी नागरिकों के मकानों और बन्धक पत्रों को जब्त कर लिया गया। जिससे 22 दिसम्बर 2007 तक सबप्राइम घाटा 8 लाख से 12 लाख करोड़ रुपये तक पहुँच गया।

वास्तव में 2002 की मन्दी के बाद अमरीकी फेडरल बैंक ने ब्याज दरों में कटौती कर दी, जिससे प्रेरित होकर लोगों ने कर्ज लेकर जमीन और भवन निर्माण में पूँजी लगाना शुरू किया। फाइनेन्स कम्पनियाँ कम ब्याज, यानि प्राथमिक दर पर सीधे बैंकों से ऋण लेकर अधिक ब्याज दर पर लोगों को कर्ज उपलब्ध कराती हैं। इस तरह के कर्ज को सबप्राइम लोन कहते है। फाइनेन्स कम्पनियाँ ऐसे लोगों को बिना ज्यादा कानूनी कार्रवाई के कर्ज दे देती हैं जिनके पास कर्ज लेने के लिए बहुत क्रेडिट नहीं होता। इसी कारण सबप्राइम कर्ज लेने और देने वाले दोनों के लिए ही जोखिम भरा है। लेकिन वित्तीय कम्पनियाँ केवल जोर जबरदस्ती और तिकड़म बाजी से अपने ऋण को वसूलती हैं। इस रूप में ये पुराने सूदखोरों के समान हैं।

सबप्राइम कर्ज लेने वाली फाइनेन्स कम्पनियों ने उत्पादन में नहीं बल्कि मकान बन्धक पत्र जैसी व्युत्पत्तियों पर पैसा लगाना शुरू कर दिया। यह बात सबप्राइम बन्धक पत्र ऋण के जोखिम को और बढ़ा देती है। सबप्राइम बन्धाक पत्र का क्या अर्थ है?

कर्ज के बदले बन्धक रखी गयी वास्तविक सम्पत्ति के बराबर ही बैंक कागज पर लिखे हुए बन्धक पत्र जारी करते हैं, जो उस कागज पर दिखायी गयी सम्पत्ति के बराबर मूल्य का होता है। जहाँ उत्पादन में लगी पूँजी दुनिया में समृ) लाती है वहीं बन्धक पत्र द्वारा एक हाथ से दूसरे हाथ में कर्जी खरीद बिक्री होती रहती है। उत्पादन से इसका कोई नाता नहीं होता है। बन्धक पत्रों का कारोबार शु) सटेबाजी है। लगातार बन्धक पत्रों का दाम बढ़ते रहने के कारण व्युत्पत्तियों का छोटा बुलबुला बहुत बड़े बुलबुले में तब्दील हो जाता है। इसके बारे में अमरीका के जाने-माने अर्थशास्त्री नोम चोम्स्की ने सालों पहले बताया था कि आज अर्थव्यवस्था में उत्पादन का योगदान पाँच फीसदी और जुआरी पूँजी का हिस्सा 95 फीसदी है।

इस बुलबुले का सही अनुमान आज व्युत्पत्तियों के कारोबार पर नजर डालकर लगाया जा सकता है। अन्तरराष्ट्रीय समायोजन बैंक ने बताया कि 2002 में दुनिया की कुल व्युत्पत्तियों का मूल्य 40 लाख अरब रुपये था जो 2007 में 5 गुना बढ़कर 206 लाख अरब रुपये हो गया। अर्थात् पाँच सालों में 500 फीसदी की वृ)। आज कुल व्युत्पत्तियों की कीमत दुनिया के सकल घरेलू उत्पाद द्ध20 लाख अरब रुपयेऋ

से दस गुना अधिक है। अर्थात् वास्तविक सम्पत्ति से दस गुना अधिक बनावटी सम्पत्ति जिसका वास्तविकता में कोई अस्तित्व नहीं। यह अतिरेक कितने दिन चल सकता है? द्धव्युत्पत्तियों के बारे में अधिक जानकारी के लिए देश-विदेश, अंक-6 में प्रकाशित शेयर बाजार पर लेख देखेंऋ आज की वित्तीय दुनिया पूरी तरह व्युत्पत्तियों के माध्यम से सटेबाजों, जुआरियों के कब्जे में है। यही साम्राज्यवादी पूँजीवाद की असलियत है।

व्युत्पत्तियों को जनसंहार के वित्तीय औजार कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। व्युत्पत्ति वित्तीय उपकरण होते हैं जिनका खुद का कोई मूल्य नहीं होता किन्तु किसी और वस्तु जैसे व्यापार की सम्पत्ति, ब्याज दर, शेयर सूचकांक, मुद्रास्फीति सूचकांक और मौसम सूचकांक से इनका दाम तय होता है।

खैर, सन् 2002 में ेडरल रिजर्व बैंक के ब्याज दर घटाने से, ;ण लेकर मकानों के वास्तविक कारोबार में जितना धन लगाया गया, उससे कई गुना ज्यादा धान सबप्राइम बन्धक पत्रों के कारोबार में लगा। मकानों के निर्माण में तेजी के कारण सीमेन्ट, स्टील, र्नीचर और श्रम की माँग में बढ़ोत्तरी हुई। श्रम की माँग में बढ़ोत्तरी से रोजगार के अवसर बढ़े। सीमेन्ट की माँग में वृ) से इससे जुड़े कारोबार में गति आ गयी। इस तरह ऐसा लगने लगा कि पूरी अर्थव्यवस्था ठीक पटरी पर आ गयी है। लेकिन तभी इसे सबप्राइम बन्धकपत्र त्रासदी ने आ दबोचा।

भवन निर्माण बुलबुले की हकीकत

बने हुए मकानों की माँग और दाम को सटेबाजी के माध्यम से कई-कई गुना तक बढ़ाया गया। विज्ञापन के माध्यम से भी माँग को बढ़ाया गया। इस तरह मकानों के अधिक दाम के चलते ज्यादा से ज्यादा लोग मकान खरीदने में अक्षम होते गये। जरूरत से ज्यादा बने मकान रिहायश के बजाय पूँजी निवेश का बहाना बन गये। अब मकान बनाने वाली कम्पनियों द्धरियल स्टेट कम्पनीऋ को ायदा पहुँचाने के लिए मकान खरीदने वालों को बैंकों ने खूब ;ण बाँटे ताकि वे ;ण लेकर मकान खरीद सकें और उपभोक्ताओं से ब्याज वसूल कर बैंकों की पूँजी में भी खूब बढ़ोत्तरी हो। कुछ दिनों तक यह खेल चलता रहा और बैंकों की पूँजी बढ़ती रही। लेकिन कुछ सालों बाद ही बढ़ती महँगाई, घटती तनख्वाह और स्वास्थ्य सुविधाओं के बढ़ते खर्च के कारण उपभोक्ता कर्ज का ब्याज देने में अक्षम हो गये। 2007 तक आते-आते भवन निर्माण उद्योग द्धरीयल स्टेटऋ की हवा निकल गयी। इसी के साथ ही मकान बन्धक पत्र की व्युत्पत्तियों के कारोबार में भी गिरावट आयी। शेयर बाजार जनवरी-रवरी 2008 में 20,000 के सूचकांक के स्तर से 15,000 के स्तर तक गिर गया। दुनिया की 500 बड़ी कम्पनियों के शेयर कारोबार में कुल 25 ीसदी का नुकसान हुआ।

डॉलर के अवमूल्यन की हकीकत

पहले डॉलर के अवमूल्यन को मन्दी का कारण बताया गया और जब बात नहीं बनी तो दूसरे कारण गिनाये गये। वास्तव में अमरीकी साम्राज्यवादी व्यवस्था चिरन्तन मन्दी की शिकार है जिसको टालने या उसका समाधान ढूँढ़ने के लिए ही डॉलर का अवमूल्यन किया गया। किसी मुद्रा के अवमूल्यन का क्या अर्थ है और इसका अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है?

मुद्रा के अवमूल्यन का अभिप्राय है सामानों की तुलना में मुद्रा की मात्रा अधिक हो जाना, जिससे मुद्रा का दाम तो घट जाता है लेकिन उसी अनुपात में सामान का दाम बढ़ जाता है। मुद्रा की मात्रा में वृ) अधिक नोट छापने के कारण होती है। जिससे महँगे हुए सामानों से पैसा निचुड़कर नोट छापने वाले अर्थात् सरकारी खजाने में चला जाता है। इसी प्रक्रिया को मुद्रास्फीति कहते हैं जिससे महँगाई में वृ) होती है। यह मेहनतकश जनता के शोषण का बहुत ही छिपा तरीका है। महँगाई बढ़ने से वास्तविक वेतन या मजदूरी घट जाती है। यानि मजदूर को पहले के बराबर मजदूरी के बदले अब बाजार में कम सामान मिलता है। डॉलर का अवमूल्यन करने वाले शिकारी खुद ही जाल में ँस गये। मन्दी को टालने के लिए डॉलर के अवमूल्यन का दुष्प्रभाव जल्द ही अमरीकी अर्थव्यवस्था पर पड़ने लगा। पिछले साल में ही डॉलर सिक्योरिटी में निवेश करने वालों का भयंकर घाटा हुआ। इसके पीछे कारण यह था कि किसी देश की मुद्रा के अवमूल्यन से उसी देश के लोगों का अपनी मुद्रा में विश्वास कम हो जाता है। इसके कारण वे विदेशी मुद्रा पाने के लिए अपने देश से सामान विदेश में बेचते हैं जिससे निर्यात में बढ़ोत्तरी होती है और उस देश का आयात घट जाता है।

सन् 2002 की तुलना में 2007 में अमरीकी डॉलर यूरो के मुकाबले 41 ीसदी और स्टर्लिंग के मुकाबले 31 ीसदी तक गिर चुका है। डॉलर के अवमूल्यन से शेयर बाजार

का भठा बैठ गया जिससे डॉलर का अवमूल्यन और अधिक बढ़ गया। डॉलर के अवमूल्यन से अमरीका की विदेशी सामानों के आयात की क्षमता घट गयी है, जिससे अमरीका में लोगों का जीवन स्तर गिरेगा। यह देश अपनी अर्थव्यवस्था के घाटे को पूरा करने के लिए पूरी तरह दूसरे देशों से पूँजी के अन्तर्प्रवाह पर निर्भर है। इस तरह देखें तो साम्राज्यवाद अब विकास के लिए तीसरी दुनिया के देशों के विकास पर निर्भर है। अपनी मन्दी को दूर करने के लिए तीसरी दुनिया के देशों की बाँह को अमरीका ने मरोड़ना शुरू कर दिया है।

भारत के पास 300 अरब डॉलर अर्थात् 12,000 अरब रुपये के विदेशी मुद्रा भण्डार है। डॉलर का अवमूल्यन के कारण इस मुद्रा भण्डार की वास्तविक कीमत तेजी से गिरी है जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था को गम्भीर नुकसान हुआ है। विदेशी मुद्रा भण्डार की डींगे हाँकने वाले भारत के शासक वर्ग को अब डॉलर का जखीरा देखकर पसीने छूट रहे हैं। भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार की ज्यादातर पूँजी शेयर बाजार के जरिये सट्टेबाजी में लगी हुई थी। यदि विदेशी मुद्रा का इस्तेमाल इस देश के मूलभूत ढाँचे के विकास में किया गया होता तो अवमूल्यन के चलते इस भारी घाटे से बचा जा सकता था। साथ ही इस देश का कुछ न कुछ अन्दरूनी विकास भी होता।

मन्दी से बचाव

इस मन्दी से केवल अमरीका में ही नवरी 2008 में 63,000 लोग बेरोजगार हो गये लेकिन इससे बचाव के जो उपाय किये जा रहे हैं वे समस्या को और विकराल बना देंगे। अमरीका मन्दी से बचने के लिए कई कदम उठा रहा है, जिनमें प्रमुख हैं–

1. कम तनख्वाह पाने वाले अपनी आमदनी का ज्यादा हिस्सा खाद्य पदार्थों और अन्य जरूरी सामान खरीदने पर खर्च करते हैं। विलासिता पर कम खर्च करने के कारण ऐसे लोग विलासिता के सामान बनाने वाली बड़ी कम्पनियों के मुनाफे में वृ) नहीं करते। ऐसी कम्पनियों के हित साधक अर्थशास्त्री गरीबों के पेट पर लात मारकर सुझाव दे रहे हैं कि ज्यादा लोगों को कम तनख्वाह देने के बजाय कम लोगों को ज्यादा तनख्वाह दी जाय। उन्नत तकनीकि की सहायता से ऐसा वे कर सकते हैं। ढेर सारे लोगों को आर्थिक गतिविधियों से दूर करके ये अपने बाजार को और सिकोड़ते जा रहे हैं। लेकिन स्वार्थान्धता में पागल ये अर्थशास्त्री यह नहीं जानना चाहते कि इससे मन्दी का कोढ़ और ज्यादा सड़ जायेगा।

2. सोने और तेल के दामों में बढ़ोत्तरी होने से सभी सामानों के दाम बढ़ गये। इस तरह तेल की कम्पनियों के साथ-साथ दूसरी कम्पनियों ने भी खूब मुनाफा कमाया है लेकिन यह समाधान भी समाधान से ज्यादा समस्या को बढ़ावा दे रहा है। दुनिया के बाजारों में खाद्य पदार्थों के ऊँचे दाम ने कैमरुन जैसे कई गरीब देशों में दंगे-फसाद को भड़का दिया है, लोग अनाज के गोदामों को लूट रहे हैं। जिसको नियन्त्रित करने के लिए अपनी कुटिल चाल चलते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ ने इन देशों को दिये जाने वाले 2000 करोड़ रुपये की खाद्य सहायता निधि को रोक देने की धमकी दी है। साथ ही उप सहारा अफ्रीका की खेती साम्राज्यवादी पूँजी के वर्चस्व को बढ़ावा देते हुए 3500 करोड़ रुपये के निवेश को दुगुना करने की बात की है।

3. जब मकानों के दाम बढ़ाये जा रहे थे और प्राइवेट कम्पनियाँ और उनके सट्टेबाज जनता को लूट रहे थे तब फेडरल बैंक ने इन एकाधिकारी कम्पनियों पर कोई लगाम नहीं कसी। इसके जवाब में कहा गया कि बाजार अपने आप ही सब कुछ सन्तुलित कर लेता है, सरकार को इसमें हस्तक्षेप की जरूरत नहीं। और आज जब यही लुटेरी कम्पनियाँ बर्बाद हो रही हैं तो फेडरल बैंक के प्रमुख बेन बर्नानके तुरन्त अपने खजाने का मुँह खोलकर ब्याज दरों में 50 फीसदी की कटौती कर देते हैं। सवाल यह है कि चाहे फेडरल बैंक हो या भारत का रिजर्व बैंक, जनता की गाढ़ी कमाई से संचित निधियों को इन सट्टेबाज कम्पनियों के हवाले क्यों कर देते हैं? आज की ये सरकारें किसके खिलाफ और किसके पक्ष में खड़ी हैं?

जब ये सभी उपाय कारगर नहीं हुए तो अमरीकी खजाने के सेक्रेटरी पॉलसन ने कहा कि सबप्राइम त्रासदी से पीड़ित प्रत्येक व्यक्ति का हर जब्त करने के बजाय उन्हें 12000-48000 रुपये की सहायता तुरन्त दी जायेगी। पिछले साल की अन्तिम तिमाही में मकान पर कर्ज लेने वाले 4,70,000 अमरीकियों को कम्पनियों ने बन्धक पत्र पर 30 फीसदी तक की छूट दी। बावजूद इसके मन्दी ने भयंकर रूप ले लिया।

बचाव अभियान के तहत लगभग सभी देशों की सरकारों ने अपने राष्ट्र की सम्पत्ति झोंक दी ताकि इन वित्तीय जोकों को मरने से बचाया जा सके। इस तरह मेहनत की कमाई से संचित देश-वासियों का धन सट्टेबाजों के हवाले

करके सरकारों ने उनके नुकसान का राष्ट्रीयकरण कर दिया।

4. उपभोक्ता सामानों की बिक्री में कमी को मन्दी का कारण बताने वाले अर्थशास्त्रियों का कहना है कि वित्तीय संस्थानों या बैंकों की सहायता से खरीद-बिक्री को प्रोत्साहित करके द्धअर्थात् बाजार की तरलता बढ़ाकरद्ध मन्दी दूर की जा सकती है। ऐसे अर्थशास्त्रियों को पता होना चाहिए कि क्यों लोग सामानों को खरीदने में अक्षम हो गये हैं? और इस समस्या का समाधान इस पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था में तरलता बढ़ाकर करना हास्यास्पद कदम है। हाँ, ऐसे उपायों से साम्राज्यवादियों को अपनी मौत से कुछ सालों की मोहलत और मिल जायेगी।

5. अभी हाल ही में अमरीकी राष्ट्रपति बुश ने बदमाश वित्तीय संस्थानों और सटोरियों पर लगाम लगाने के लिए ेडरल रिजर्व बैंक को एक नया नुस्खा सौंपा है। इसके तहत ेडरल रिजर्व बैंक ''बाजार स्थायीकरण नियामक'' की नयी भूमिका में विभिन्न वित्तीय संस्थानों और वाणिज्य बैंकों के बही खातों की जाँच के लिए जाँचकर्ताओं की टीम भेजेगा ताकि व्युत्पत्तियों के कारोबार पर अंकुश लगाया जा सके। इससे दो बातें सि) होती हैं। पहली तो यह कि चाहे अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, साम्राज्यवादियों ने यह स्वीकार कर लिया है कि उनकी नाक के नीचे चलने वाले व्युत्पत्तियों के कारोबार के इन ोड़ों का समय रहते इलाज नहीं किया गया तो इसके ूटने का परिणाम जानलेवा होगा। दूसरा यह कि इसी बहाने वे कई अन्य देशों की वित्तीय व्यवस्थाओं और बैंकों की जासूसी कर सकेंगे ताकि इन देशों की वित्तीय प्रणाली पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकें।

6. सम्प्रभु सम्पत्ति कोष द्धसॉवरेन वेल्थ ण्डद्ध किसी देश की केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व में शेयर, बॉण्ड, सम्पत्ति या दूसरे वित्तीय उपकरण हैं जिससे ये बैंक देश की वित्तीय व्यवस्था का प्रबन्धन करते हैं। इस कोष के तहत बचत निधि, पेन्सन निवेश, तेल कोष और दूसरी सम्पत्ति भी आती है। मोर्गन स्टैनले कम्पनी ने एक अध्ययन के जरिये बताया कि दुनिया का कुल सम्प्रभु सम्पत्ति कोष आज के एक लाख अरब रुपये से बढ़कर 2015 में 4 लाख 80 हजार अरब हो जायेगा। जिसमें सालाना 20 हजार अरब रुपये की वृ) हो रही है। भारत और चीन के साथ तीसरी दुनिया के देशों के पास इस कोष के रूप में बहुत बड़ी सम्पत्ति होना अमरीका के लिए परेशानी का सबब हो सकता है। इतनी बड़ी सम्पत्ति रखने के कारण ये देश दुनिया की अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभाव बना सकते हैं और साम्राज्यवादी दबावों से खुद को एक हद तक बचा सकते हैं।

लेकिन अमरीका अपनी दादागिरी के चलते पारदर्शिता और मन्दी नियामक के कारण इस कोष पर गि) दृष्टि जमाये बैठा है। अमरीका अपनी मन्दी को दूर करने के लिए इन कोषों से धन उगाह कर अन्तरराष्ट्रीय वित्त कोष बनाने का सुझाव दे रहा है। इस कोष के बनने के बाद वह मन्दी के बहाने आसानी से सम्प्रभु सम्पति के माध्यम से गरीब देशों की सम्पत्ति चूष सकेगा।

इन सभी बातों से जाहिर है कि सौ साल पहले की पूँजीवादी मन्दी से आज की साम्राज्यवादी मन्दी भिन्न है। 19वीं शताब्दी में पूँजी का अधिकांश हिस्सा उत्पादन में लगा होता था। उत्पादन की एक शाखा की मन्दी से दूसरी शाखाएँ भी संकटग्रस्त हो जाती थी। लेकिन शीघ्र ही कुछ कम्पनियों के बन्द होने से प्रतियोगिता में राहत मिलने के कारण, उद्योग की नयी शाखा के विकास से और बाजार के विस्तार से इस संकट की क्षतिपूर्ति हो जाती थी। इस तरह मन्दी का चक्र 7-8 सालों के अन्तराल पर चलता रहता था। आज स्थिति बिल्कुल भिन्न है दुनिया का बाजार संतृप्त होकर गहरावग्रस्त हो चुका है इसमें थोड़ी ही ेरबदल की गुन्जाइश हो सकती है वह भी तीसरी दुनिया के देशों में।

आज दुनिया की अर्थव्यवस्था कुछ मुठीभर इजारेदार कम्पनियों के हाथ में है। बाजार विस्तार की सम्भावना न होने और अर्थव्यवस्था के सटोरिया पूँजी की गिर"त में होने के कारण लगातार विश्व व्यवस्था मन्दी की शिकार हो रही है। इस मन्दी को दूर करने का साम्राज्यवादी देशों के पास एकमात्र तरीका तीसरी दुनिया के देशों के संसाधनों की जमकर लूट है। साम्राज्यवादी शोषण बढ़ाने और तीसरी दुनिया के बाजार पर कब्जे के लिए ही 1990-2000 के दौरान तीसरी दुनिया और भूतपूर्व सोवियत खेमें के देशों के दरवाजे खोले गये। अमरीका अपनी मन्दी दूर करने के लिए आज भी ऐसे कदम उठायेगा, जिससे गरीब देशों की लूट और बढ़ जायेगी। इससे तीसरी दुनिया का पहले से ही मौजूद संकट और लाइलाज होता जायेगा। इन देशों में जनता का गुस्सा बढ़ता जायेगा। साथ ही इन आर्थिक संकटों के प्रभाव से साम्राज्यवादियों की आपसी रन्जिश भी बढ़ेगी और उनमें ूट पड़ सकती है। पूरी दुनिया उथल-पुथल की ओर बढ़ रही है। यह भावी परिवर्तनों और दुनिया के आगे बढ़ने की ओर संकेत है।

किडनी का धन्धा

जिस समाज में मानवीय अंगों की खरीद-फरोख्त होने लगे उस समाज में मानवता के पतन का सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है।

हमारे देश में इन्सान की जिन्दगी का हर पहलू उसके मानवीय गुण, प्रतिभा, सुन्दरता और खुद इन्सान भी खरीदे और बेचे जा रहे हैं। मगर यह सिलसिला यहीं तक आकर खत्म नहीं होता। इन्सान के जिस्म से उसके अंगों को निकाल कर मण्डी में बेचा जाना आज पतनशील व्यवस्था के क्रूरतम चेहरे को सामने ला देता है। लेकिन जब ऐसी घटनाएँ एक के बाद एक देश के कोने-कोने से आने लगे तब समझ लीजिये कि यह व्यवस्था के पतन की पराकाष्ठा है। खास तौर पर तब, जब ऐसा धन्धा देश की छाती द्धदिल्लीऋ पर बेलगाम फल-फूल रहा हो।

किडनी काण्ड के कुख्यात अभियुक्त डॉ. अमित कुमार ऊर्फ सन्तोष रावत का अंग द्धकिडनीऋ प्रत्यारोपण का कारोबार दिल्ली के तीन अस्पतालों, 5 डायग्नोस्टिक द्धजाँचऋ केन्द्रों और 10 प्रयोगशालाओं तक फैले होने का प्रमाण मिला, जिसमें 50 से ज्यादा डॉक्टर, नर्स और दलाल संलिप्त थे। इन स्फेदपोशों के अलावा इस कारोबार में ठग और गुण्डों की भी भागीदारी का पता चला जो मजबूर लोगों को किडनी बेचने के लिए पटाते थे। इस गिरोह का सरगना डॉ. अमित कुमार जिसका नाम आज सबकी जुबान पर है, ऐसा नहीं कि इस धन्धे का नया खिलाड़ी है। वह 1993 से अब तक कई बार गिर"तार हो चुका है। अमित कुमार का बार-बार गिर"तार होना और रिहा हो जाना उसके साथ शासन-प्रशासन की मिलीभगत तथा सरकार की नैतिकता की पोल खोलता है। डॉ. अमित के दलाल आर्थिक तंगी की मार झेल रहे लोगों को पैसे का लालच देकर उन्हें किडनी बेचने के लिए तैयार करते थे। जरूरत पड़ने पर उसके गुण्डे इन कमजोर लोगों को डराते-धमकाते और अक्सर उनके साथ मारपीट भी करते थे।

हमारे देश में 1944 में मानव अंग प्रत्यारोपण कानून पारित किया गया जिसके तहत किसी भी तरह के मानव अंगों के व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाया गया। इसमें यह भी प्रावधान है कि मानव शरीर से अंगों को केवल इलाज के लिए ही निकाला जा सकता है अथवा मस्तिष्क मृत व्यक्ति के शव से ही इसके तहत अंगों को निकाला जा सकता है। अपने परिवार के अलावा किसी को भी अंग दान करना गैर कानूनी है। लेकिन हर कानून की तरह इस कानून में भी मुनाफाखोरों के लिए 'चोर दरवाजे' छोड़ दिये गये हैं।' जरूरत मन्द रोगी को प्रेम या जुड़ाव के चलते भी कोई व्यक्ति अंग दान कर सकता है। इस चोर दरवाजे को धारा 9द्ध3ऋ के नाम से जाना जाता है। इसी का फायदा उठाकर डॉ. अमित कुमार जैसे जालिम ऐसा वीभत्स खेल खेलते हैं तथा शासन भी अपनी आँखों पर धारा 9द्ध3ऋ का पर्दा डाल लेता है। चेन्नई, बैंगलोर, हैदराबाद, मुम्बई, चण्डीगढ़, अमृतसर आदि जगहों पर भी यह धन्धा इसी पर्दे की आड़ से चल रहा है।

इस खेल में किसी भी कानून का पालन नहीं होता। इस तरह के गिरोहों के शिकार आर्थिक रूप से कमजोर, बेरोजगार नौजवान, खेती से उजड़े किसान, उद्योगों से निकाले गये मजदूर तथा अपनी जमीन से उजड़े लोग भारी संख्या में होते हैं। इन जरूरत मन्दों को 40,000 से एक लाख रुपये तक का लालच देकर किडनी बेचने के लिए तैयार किया जाता है। नैतिकता के आधार पर किडनी दान करने वाले से लिखित अनुमति, शल्य क्रिया की विधि, किडनी निकालने का कारण तथा इससे उत्पन्न खतरे और नुकसान की पूरी जानकारी देने के बाद ही अनुमति ली जा सकती है। लेकिन गरीबी के चलते शिक्षा से महरूम सीधे-सरल लोगों को कुछ भी नहीं बताया जाता, उनकी अनुमति की तो बात ही दूर है। किडनी दान करने के बाद तुरन्त ही इन गरीबों को अस्पताल से बाहर का रास्ता दिखा दिया जाता है तथा उन्हें आवश्यक इलाज तक मुहै"या नहीं कराया जाता। उचित इलाज के अभाव में इन लोगों में कमजोरी अथवा बीमारी पनपने लगती है। जिसकी वजह से इनकी काम करने की क्षमता में कमी आ जाती है और जल्दी ही वे चिर निद्रा में सो जाते हैं। एक किडनी पर जीने वाले इन दानकर्ताओं की दूसरी किडनी की नियमित जाँच की भी कोई जिम्मेदारी

नहीं ली जाती और यदि किसी कारण वश इनकी दूसरी किडनी काम करना बन्द कर दे तो इन्हें मौत के इन्तजार में एक-एक दिन गिनना पड़ता हैं।

भारत के लगभग 1.5 लाख लोगों ने किडनी प्रत्यारोपण के लिए नामांकन कराया है जबकि 4000 से भी कम लोगों को ही यह सुविधा प्राप्त हो सकती है। निश्चित तौर पर माँग और पूर्ति के बीच गहरी खाई मौजूद है, लेकिन कोई भी तर्क गरीब मछलियों को अमीर मगरमच्छों का चारा बना देने को जायज नहीं ठहरा सकता। वैश्वीकरण की नीतियों के चलते विदेशी और विदेशों में बसे अप्रवासी भारतीयों के लिए भारत में किडनी खरीदना बहुत आसान हो गया है। इस खरीद-ऋरोख्त द्वारा इन पैसे वालों को तो जीवनदान मिल जाता है मगर हर सौदे की तरह इस सौदे में भी आम जनता को कमजोरी, बीमारी और मौत ही हासिल होती है। यह उदाहरण वैश्वीकरण की वकालत करने वालों के मुँह पर तमाचा है। सच्चाई यही है कि वैश्वीकरण के नाम पर किये गये हर सौदे में आम जनता हमेशा घाटे में रहती है। हमारे देश में डेढ़ लाख किडनी के मरीजों को किडनी प्रत्यारोपण अथवा डायलिसिस की जरूरत है।

लेकिन इसका समाधान गरीब लोगों को शिकार बनाकर नहीं बल्कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना कर किया जाना चाहिए 'मस्तिष्क मृत्यु' घोषित शवों के अंगों की उचित तकनीक द्वारा रोगियों में प्रत्यारोपण की सुविधा विकसित करके, इसे जन-जन तक पहुँचाना चाहिए। साथ ही नेत्रदान की तरह अंगदान को भी प्रचारित-प्रसारित करना चाहिए। स्वास्थ्य सेवाओं को विकसित करते हुए देश भर में मु"त अंग प्रत्यारोपण द्धजिसकी कीमत आज 15 से 20 लाख रुपये हैऋ तथा मु"त डायलिसिस द्धखर्च हर बार 20,000ऋ की सुविधा विकसित करनी चाहिए। सरकारी बु)जीवी सच्चाई पर परदा डालते हुए कहते हैं कि धारा 9द्ध3ऋ को खत्म करके अंगों की खरीद-ऋरोख्त को घोर अपराध की श्रेणी में लाना चाहिए तथा इसका उल्लंघन करने वालों के खिलफ कठोर कार्रवाई का प्रावधान होना चाहिए। मगर क्या ऐसा करना डॉ. अमित कुमार जैसे अपराधियों तथा बड़े-बड़े प्राइवेट अस्पतालों के हित में होगा जो बार-बार गिर"तारी के बाद आसानी से छूट जाते हैं? सरकार को जब भी ैसला लेना होता है और आम जनता या अमीरजादों में से किसी एक के हित को चुनना होता है तो सरकार अमीरों के पाले में चली जाती है। डॉ. अमित एक मात्र अपराधी नहीं है। वह तो अपराध की नींव पर खड़ी इस व्यवस्था का एक पुर्जा मात्र है।

खतरनाक लिंग अनुपात : गायब होती बेटियाँ

उत्तरी भारत के पाँच राज्यों में लड़कियों की संख्या तेजी से घटती जा रही है। सबसे बुरी हालत पंजाब की है जहाँ 1000 लड़कों के अनुपात में केवल 527 लड़कियाँ ही है, यही अनुपात 2001 की जनगणना में 1000 लड़कों पर 754 लड़कियाँ थी। यह हालत तब है जब कन्या भ्रूण हत्या कानून के तहत लिंग जाँच करने और करवाने तथा गर्भपात करने और कराने वालों की गिर"तारी और उन्हें सजा देने का प्रावधान है। साथ ही जन-जागृति के कार्यक्रमों के तहत पोस्टर, दीवार लेखन, अखबारों और टी. वी. में विज्ञापन तथा लड़की के माँ-बाप को सरकारी सहायता जैसे उपाय भी चलाये जा रहे हैं। इण्टरनेशनल डवलपमेण्ट रिसर्च सेण्टर ने पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, मध्यप्रदेश व हिमालय प्रदेश की 6000 शहरी व घरेलू महिलाओं के बीच एक सर्वेक्षण किया। इसके नतीजे शहरी व ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में लड़कियों की संख्या में भयावह कमी को दर्शाते हैं। पंजाब के ग्रामीण इलाकों के सिख व जाट समुदाय में 1000 लड़कों पर 500 से भी कम लड़कियाँ हैं। शहरी इलाके के सवर्ण हिन्दू समुदाय में तो यह अनुपात भयावह रूप से घटकर 1000 लड़कों पर केवल 300 लड़कियाँ ही रह गया हैं।

मध्य प्रदेश के मुरैना जिले में 14 वर्ष तक के आयु वर्ग के बच्चों में 1000 लड़कों के अनुपात में 815 लड़कियाँ हैं जबकि 2001 में वहाँ लड़कियों की संख्या 829 थी। राजस्थान के धौलपुर जिले में जहाँ 2001 में लड़कियों की संख्या 859 थी, वहीं 2005 में यह संख्या घट कर 824 रह गयी। हिमाचल के कांगरा जिले में 2001 में लड़कियों की संख्या 832 थी जो आज केवल 796 रह गई है। लेकिन इससे भी भयावह कमी पंजाब के ातह गढ़-साहिब जिले में हुई है, जहाँ लड़कियों की संख्या 2001 में 754 से घटकर

अब केवल 527 रह गयी है।

इस सर्वे के अनुसार लड़कियों की घटती संख्या का एक कारण परिवार में एक ही बच्चा पैदा करने का विचार है क्योंकि ऐसे माँ-बाप एक मात्र बच्चे के रूप में बेटा ही पैदा करना चाहते हैं।

आधुनिक तकनीक अल्ट्रासाउण्ड, उन पुरातनपंथी सोच वालों के लिए वरदान साबित हुई है, जो पुत्र को वंश चलाने वाला और माँ-बाप को तर्पण देकर स्वर्ग पहुँचाने वाला मानते हैं। पहले भी लोग पुत्र लालसा में मन्नत माँगने, झाड़ूँक, जड़ी-बूटी और साधू-सन्यासियों का सहारा लेते थे। मगर ये अचूक उपाय नहीं थे और सम्भावना होती थी कि इन सब के बावजूद लड़कियाँ जन्म ले ही लें। हालाँकि यही माना जाता था कि उनकी आराधना में कोई कमी रह गयी। लेकिन आधुनिक तकनीक ने पुत्र प्राप्ति की 100 ीसदी गारण्टी कर दी है। अत: जो तकनीक समाज की भलाई के लिए है वही हमारे पिछड़ेपन के कारण हत्यारे की भूमिका निभा रही है। इसके सामने भ्रूण हत्या कानून बेअसर है। यह व्यवस्था पारिवारिक, सामुदायिक समस्या का निदान, दण्डात्मक कानून बनाकर कर भी नहीं सकती क्योंकि हत्या में लिप्त अपने ही सगे-सम्बन्धियों के खिलाफ भला कौन शिकायत करेगा और कौन गवाही देगा?

ये आँकड़ें इससे आगे की भी बात करते हैं। ये स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि बेटियों की हत्या करने वाले माँ-बाप और इस वीभत्स पाप का मूक दर्शक सभ्य समाज, एक बहुत ही विकृत और विनाशकारी भविष्य की नींव रख चुके हैं। पुत्र मोह में अन्धे इन धृतराष्ट्रों ने क्या कभी सोचा कि ये कैसा पुत्र चाहते हैं? क्या एक ऐसा पुत्र जो आजीवन कुँआरा रहने के लिए अभिशप्त हो और एक जीवन साथी के अभाव में ढेर सारी दिमागी विकृतियाँ, यौन कुँठाओं से ग्रसित रहे तथा आजीवन अकेले रहने की सजा भुगते? जाहिर है कि वंश बेल बढ़ाने के लिए पुत्र प्राप्ति की चाहत करने वाले लोग क्या इतना भी नहीं जानते कि आज लाखों कन्याओं की गर्भ में ही हत्या करके खुद अपनी वंश बेल को काट रहे हैं।

स्थिति यह है कि भविष्य में हजार में से 200 से 500 लड़कों की शादी नहीं होगी। तेजी से घटते लिंग अनुपात के अन्य दुष्परिणाम भी सामने आने लगे हैं जैसे समाज महिलाओं से छेड़-छाड़, यौन-उत्पीड़न और बलात्कार की घटनाऐं लगातार बढ़ रही हैं। ज्यों-ज्यों महिलाओं की संख्या में कमी होती जायेगी उसी अनुपात में उनका उत्पीड़ना भी बढ़ेगा। ऐसे रुग्ण समाज में हर नजर भूखे भेडिये की तरह उनका पीछा करेगी और उन्हें नोचने को तैयार होगी।

पुत्र प्राप्ति के विचार को केवल एक पुरानी सोच कहना इसकी जघन्यता को कम करना है। यह विचार एक आपराधिक विचार है और इसे उसी श्रेणी में रखना उचित होगा। इसकी जघन्यता का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि यह हमें एक ऐसे समाज की और धकेल रहा है जो पूरी तरह से बीमार, असन्तुलित और मनुष्य जाति के लिए विनाशकारी होगा। ऐसे माँ-बाप चाहे जितने भी भोले, सज्जन और सभ्य दिखते हो। ये नरत के पात्र हैं।

अमरीकी स्वर्ग का सपना घुटन भरी जिन्दगी में बदल गया

कुरियन डेविड ने जब अपना पुश्तैनी घर बेचा था, तब उसे लगता था कि वह अपने और अपने परिवार की बेहतर जिन्दगी के लिए अमरीका जा रहा है। उसी जैसे सैंकड़ों दूसरे मजदूरों को भी अच्छी तनख्वाह, रहने के लिए बढ़िया मकान, ग्रीन कार्ड द्धस्थाई नागरिकताऋ का झाँसा दिया गया था।

इन सभी लोगों ने, जिनमें से अधिकतर पाईप फिटर और वेल्डर थे, टेक्सास के सिग्नल इण्टरनेशनल शिपयार्ड में नौकरी पाने के लिए दलालों को 20,000 डॉलर द्ध8 लाख रुपयेऋ दिये।

जब वे लोग अमरीका पहुँचे तो उनका सपना पूरा होने की दूर-दूर तक कोई गुन्जाइश दिखाई नहीं दी। 12 ×8 मीटर के एक छोटे से कमरे में 24 लोगों को ठूँस कर रखा गया। उन्हें सोने के लिए बंक बेड द्धरेलवे स्लीपर की तरह एक के ऊपर एक बिस्तर वाला बेडऋ दिये गये। ये बंक बेड इतने तंग थे कि कामगार इन में केवल घुस कर सो सकते थे, इन पर बैठा नहीं जा सकता था। इन 24 लोगों के लिए इसी कमरे में केवल दो खुले बाथरूम थे। वहाँ कपड़े बदलने के लिए दरवाजा बन्द करने का इन्तजाम

नहीं था। उनमें से आधे लोग दिन में काम करते थे और आधे रात को, इसलिए कमरे में लाइट जलाने की इजाजत नहीं थी क्योंकि हर समय कोई न कोई सोने की कोशिश कर रहा होता था।

उन्हें खाने के लिए ठण्डा और बासी खाना दिया जाता। सुबह नाश्ते में बासी ब्रेड और दोपहर का खाना पैक होकर आता था जो सर्दियों में दोपहर होते-होते बर्फ की तरह ठण्डा हो जाता था और गर्मियों में दोपहर होने तक सड़ जाता था। दोपहर का खाना उन्हें कूड़े के ढेर पर बैठकर खाना पड़ता था। उनके कमरों के बाहर एक सशस्त्र पहरेदार होता था जो उनको बाहर नहीं निकलने देता था। वहाँ मेहमानों को लाने की भी पाबन्दी थी। मनोरंजन के नाम पर वहाँ 200 लोगों के लिए एक टी.वी. था। अपने-अपने मनपसन्द चैनलों के लिए मजदूर अक्सर आपस में लड़ते रहते थे। कामगार वहाँ से भाग कर जा न सकें इसलिए उस कैम्प के चारों तरु कँटीले तार और बाड़ लगायी गयी थी। उनकी हालत अपने आकार से छोटे डिब्बे में बन्द मछली की तरह थी।

उनके लिए ोन करने की कोई व्यवस्था नहीं थी। इस सब के बावजूद भी सुविधाओं के नाम पर उनकी मजदूरी में से 35 डॉलर द्ध1400 रुपयेऋ रोज काट लिये जाते थे। जोकि 40,000 मासिक बैठते हैं।

जब इन मजदूरों ने प्लाण्ट के मैनेजर से इसकी शिकायत की तो उसका रवैया नकारात्मक रहा बल्कि कमरे में एक कुर्सी की माँग करने पर उसने खुद भौंडा प्रदर्शन करते हुए दिखाया कि किस तरह उन्हें उचककर ऊपर वाले बेड पर बैठना चाहिए और कपड़े बदलकर या जूते पहनकर वापस नीचे कूद जाना चाहिए।

राजन इन्हीं मजदूरों में से एक है। वह बी. पी. तेल कम्पनी के लिए रूस में काम करता था और छुट्टियाँ मनाने अपने घर केरल आया हुआ था। उसने अखबार में दीवान कन्सलटेण्ट प्राइवेट लि॰ का विज्ञापन देखा जिसमें अमरीका स्थित सिग्नल इण्टरनेशनल कम्पनी के लिए काम करने के बदले में ग्रीन कार्ड देने का वादा किया गया था।

राजन ने उस दलाल कम्पनी के मालिक सचिन दीवान से बात की जिसने उसे 10 दिन में 20,000 डॉलर लाने के लिए कहा। उसके घर की कीमत 12 लाख थी, लेकिन जल्दी पैसा जुटाने के लिए उसने घर को सस्ते दाम पर बेच दिया। प्लाण्ट के ज्यादातर लोगों की कहानी राजन जैसी ही है। उन्हें पैसा जुटाने के लिए उधार लेना पड़ा या घर-जेवर गिरवी रखने पड़े। इन लोगों ने हर चीज दाँव पर लगा दी। ये अपने आपको बन्धक या गुलाम की तरह कैद में महसूस करते हुए सड़ा-गला खाना खाकर भी सिर्फ इसलिए वहाँ जमे रहे क्योंकि उनसे ग्रीन कार्ड का वादा किया गया था। मजदूरों का कहना था कि उन्हें सुअर की तरह बाड़े में बन्द रखा जाता था। जब उन्होंने कहीं आस-पास खुद जगह लेकर रहने के बारे में सोचा जहाँ पर खाना अपने आप बना सकें, तो उन्हें इजाजत नहीं दी गयी। इन मजदूरों ने जब कोई शिकायत की तो उन्हें नौकरी छोड़ने और वहाँ से चले जाने को कहा गया। लेकिन इन लोगों ने इतना कुछ दाँव पर लगा दिया था कि सब कुछ छोड़कर जाना सम्भव नहीं था। इस दर्दनाक स्थिति को सुनने-समझने वाला वहाँ कोई नहीं था। गौरतलब है कि जो वर्किंग वीजा, उन्हें दिया गया, उसमें साफ लिखा हुआ है कि ये लोग किसी दूसरी कम्पनी के लिए काम नहीं कर सकते। इससे उन अमरीकी अधिकारियों की भूमिका भी सन्देह के घेरे में है जिन्होंने यह वर्किंग वीजा जारी किया उनकी मिलीभगत से इन्कार नहीं किया जा सकता।

इन मजदूरों को रोजाना 10 घण्टे तक काम करना होता था लेकिन यह नियम केवल भारतीय मजदूरों के लिए था। दूसरे मजदूर एक दिन छोड़कर एक दिन काम पर आते थे। भारतीय मजदूरों का काम भी जोखिम भरा था। जहाज के पेन्दे में 2 ुट तक की संकरी जगह पर उन्हें काम करना होता था जहाँ वेल्डिंग से बहुत धुँआ पैदा होता था। वहाँ अगर किसी मजदूर को कुछ हो जाये तो उसकी मदद करने में 10 मिनट लगते।

इस तरह की घुटन भरी जिन्दगी से तंग आकर 120 मजदूरों ने मार्च 2008 में कम्पनी छोड़ दी और मिलकर कम्पनी के खिलाफ लड़ने का ैसला किया। उधर सिग्नल कम्पनी ने अपने ऊपर लगे आरोपों को बेबुनियाद बताते हुए दावा किया कि वह मजदूरों को बहुत बढ़िया सुविधाएँ दे रही है। लेकिन अब मीडिया के लोग सच्चाई जानने के लिए कार्यस्थल पर गये तो सिग्नल के कर्मचारियों ने उन्हें मजदूरों से मिलने नहीं दिया।

आज समाज में व्याप्त बेरोजगारी और असुरक्षित

भविष्य के कारण आम जनता बहुत जल्दी ऐसी परिस्थितियों में फँस जाती है। जनता की इसी समस्या का फायदा सिग्नल जैसी रक्त-पिपाषु कम्पनियाँ और उनके देशी दलाल उठाते हैं, जिन्हें काम करने के लिए भारत में सस्ते मजदूर मिल जाते हैं। आज भारत में दलालों की पूरी फौज मौजूद है जो बेहतर जिन्दगी का सपना दिखाने और विदेशी नौकरी का झाँसा देकर लोगों को ठगने में लगे हैं। यह कोई पहली घटना नहीं है। इससे पहले भी इसी तरह के दिल दहलाने वाले मामले सामने आये हैं।

मशहूर पंजाबी गायक दिलेर मेंहदी 'कबूतरबाजी' में फँस चुके हैं। पिछले दिनों गुजरात से लोकसभा के एक सदस्य इस तरह का धन्धा करते हुए एयरपोर्ट पर रंगे हाथों पकड़े गये थे। बन्द कण्टेनरों में अवैध मानव तस्करी के दौरान मौत की घटनाएँ भी अखबारों की सुर्खियाँ रही हैं। दौरे पर गये खिलाड़ियों का विदेशों में गायब हो जाना भी अब आये दिन की बात हो गयी है। अब तो इन्तहा यह है कि पिछले दिनों सैन्य अभ्यास के लिए गयी भारतीय सेना की टुकड़ी में से दो जवान गायब हो गये।

अब इस पूरी व्यवस्था के पैरोकारों से यह सवाल है कि आखिर इस दुखद त्रासदी का अन्त कैसे होगा? जहाँ आदमी को बेहतर जिन्दगी के लिए ऐसी अमानवीय यन्त्रणाओं को सहना पड़े क्या वहाँ के रहनुमाओं को उखाड़ फेंकना चाहिए? क्या यह घटनाएँ 9 से 10 फीसदी तक विकास दर हासिल करने वाले मुल्क की असली हकीकत को बयाँ नहीं करतीं?

इस घटना के बाद सिग्नल इण्टरनेशनल ने अपना भारतीय दलाल बदल दिया है। दीवान कन्सलटेण्ट की जगह अब एस. मसूर एण्ड कम्पनी लि. ने ले ली है। ऐसा भी हो सकता है कि जिन अमरीकी अधिकारियों ने वीजा जारी किये थे, उनके खिलाफ कोई कार्रवाई हो जाये। मीडिया में यह खबर आने के बाद क्या हमारा बुनियादी सवाल हल हो जायेगा। सवाल जो सुरक्षित भविष्य का है।

''बहरीन में अप्रवासी मजदूरों की शानदार लड़ाई''

संयुक्त अरब अमीरात के एक देश, बहरीन स्थित भारतीय राजदूत बालकृष्ण शेटी ने कहा है कि भारतीय मजदूरों का न्यूनतम वेतन 40 दीनार से बढ़ाकर 100 दीनार कर देना चाहिए। क्योंकि इस कमाई से भारत स्थित मजदूरों के परिवार का खर्च नहीं चल पाता है और वे बहुत ही कंगाली में जिन्दगी बसर करते हैं। यह बात उन्होंने पिछले दिनों वहाँ मजदूरों के तीव्र आक्रोश और हड़तालों के बाद कही।

मजदूरों की वास्तविक आमदनी में पिछले कुछ महीनों से गिरावट आ रही है। इसका एक बड़ा कारण है अमरीकी मन्दी, जिसके कारण डॉलर की कीमत गिर गयी है और अमरीका से जुड़ी अर्थव्यवस्थाओं की मुद्राओं की कीमत ऊपर चढ़ गयी है। भारत की मुद्रा भी पिछले महीनों में 20 फीसदी से ज्यादा ऊपर चढ़ गयी है। इसलिए अब भारतीय मजदूर जितने डॉलर कमाकर भारत भेजते हैं, उसके बदले उन्हें पहले की अपेक्षा कम रुपया मिलता है। इसी वजह से उनकी आमदनी में भारी गिरावट आयी है।

संयुक्त अरब अमीरात में मजदूरों की खराब हालत का एक दूसरा पहलू है–विदेशी मजदूरों की ''जमानत लेने की व्यवस्था''। जिसके तहत जो कम्पनी उन्हें काम पर रखती है, वह उन पर पूरी तरह तानाशाही कर सकती है क्योंकि उसी की जमानत पर वे वहाँ रह सकते हैं। पूँजीपति मजदूरों के ऊपर कोई भी आरोप लगाकर उनको नौकरी से निकाल सकता है। यही नहीं वह मजदूरों पर गैरकादारी का आरोप लगाकर उनका पासपोर्ट भी जब्त कर सकता है। अपने घरों में सुरक्षित, हमारे लिए इस अन्यायपूर्ण स्थिति की कल्पना करना कितना मुश्किल है कि जो मजदूर अपने सगे-सम्बन्धियों से इतनी दूर बेसहारा और बेबस है, उसका एकमात्र सहारा उसकी नौकरी छीन ली जाती है, पासपोर्ट जब्त कर लिया जाता है। ऐसे में वह पर कतरे पक्षी की तरह तड़पता रहता है। वह सोचता है कि इससे तो भूखे प्यासे अपने परिवार के बीच रहना ही अच्छा था, कहाँ फँस गये। वह अपने दिल का दर्द किसको सुनाये? कहीं दूर-दूर तक उसे कोई दिखायी नहीं देता।

अप्रवासी मजदूर अपने भाई-बहनों, माँ-बाप, पत्नी-बच्चों को भारत में छोड़कर खुद समुद्र पार के उन देशों में जाते हैं जहाँ की भाषा भी वे नहीं जानते। जोखिम भरे कामों

में अपनी जिन्दगी झोंक देते हैं। वहाँ से डॉलर कमाकर, वे भारत में भेजते हैं जिनका भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार में भारी योगदान होता है। इसी विदेशी मुद्रा से देश की जरूरत की मूलभूत चीजें जैसे–तेल आदि खरीदा जाता है। लेकिन इसका अधिकतर उपयोग पूँजीपतियों की ए"याशी के साजो-सामान, विदेशी हथियार खरीदने और उस पर भारी दलाली खाने में होता है। कितने क्षोभ की बात है कि जो मजदूर अपनी हड्डियाँ गला-गलाकर अपने खून-पसीने को डॉलर में ढालकर भारत भेजता है, उसके पत्नी-बच्चों के भविष्य का कोई ठिकाना नहीं है।

भारत सरकार ने मजदूरों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए कुवैत और संयुक्त अरब अमीरात के साथ एक समझौता किया है, लेकिन यह समझौता सिर्फ कागजों और फाइलों तक ही सिमटकर रह गया है। संयुक्त अरब अमीरात की ''जमानत व्यवस्था'' के चलते यह समझौता लागू करना एक बहुत ही दुष्कर काम है। इसका एक उदाहरण संयुक्त अरब अमीरात के देश दुबई की एक विशालकाय कम्पनी जिबल अली फ्री जोन में देखने को मिला। इस कम्पनी ने संयुक्त अरब अमीरात के श्रम मन्त्रालय और दुबई स्थित भारतीय दूतावास से प्रमाणित कराये बिना ही मजदूरों से सीधा अनुबन्ध किया। ये अनुबन्ध अरबी भाषा में किये जाते हैं जिसकी जानकारी न होने के कारण मजदूर इन अनुबन्धों के छल-प्रपंच को समझ नहीं पाते हैं। बाद में ये मजदूर अपने आपको एक ऐसी असहाय स्थिति में पाते हैं कि ये पूँजीपति के खिलाफ न तो न्यायालय में जा सकते हैं, न हड़ताल कर सकते हैं, और न ही मजदूर यूनियन बना सकते हैं। अनुबन्ध के जरिये उन्हें एक ऐसा गुलाम बना दिया जाता है जो अपने मालिक की इजाजत के बिना साँस भी नहीं ले सकते हैं। कैसी दिल दहला देने वाली त्रासदी है कि एक तरु साम्राज्यवादी पूरी दुनिया में लोकतन्त्र की स्थापना के बहाने लाखों लोगों का कत्लेआम करवाते हैं और दूसरी तरु वे 14वीं-15वीं शताब्दियों की तरह लोगों को गुलामी की जंजीरों में जकड़ रहे हैं।

लेकिन जनता दूब घास की तरह होती है। उसको कितना ही शोषित-उत्पीड़ित क्यों न किया जाये? वह कभी जिन्दगी से हार नहीं मानती है। आखिरी दम तक जिन्दा रहने के लिए जूझती और संघर्ष करती रहती है। संयुक्त अरब अमीरात में भी ऐसा ही हुआ। मजदूरों ने इस घोर अन्याय के खिलाफ आवाज बुलन्द की। संयुक्त अरब अमीरात के फ्री जोन में काम करने वाले भवन निर्माण क्षेत्र के 7 लाख मजदूरों ने एक बड़ा आन्दोलन करके पूँजीपतियों को चुनौती दी है। पिछले दिनों दुबई की भीमकाय निर्माण कम्पनी अरबेटिक के लगभग 40,000 मजदूरों ने हड़ताल की। मजदूरों के आन्दोलन की वजह से जेबल अली फ्री जोन और उसके आस-पास के इलाके भी काफी प्रभावित हुए हैं।

अक्टूबर 2007 में, निर्माण कम्पनी पाउलिंग मिडिल ईस्ट के 21,000 मजदूरों ने वेतन बढ़ाने की माँग को लेकर हथियार उठाये थे। मजदूरों ने उनका दमन करने आयी पुलिस के वाहनों को तहस-नहस कर दिया और यातायात भी ठप कर दिया।

आज पूरी दुनिया में मजदूरों को घोर अमानवीय स्थिति में जीना पड़ रहा है। शासक वर्गों पूँजीपतियों और साम्राज्यवादियों के अमानवीय हमले उनके ऊपर बढ़ते ही जा रहे हैं। जीतोड़ मेहनत के बावजूद उन्हें रोटी, कपड़ा, शिक्षा और चिकित्सा जैसी न्यूनतम जरूरतों से भी वंचित किया जा रहा है। साम्राज्यवादी लुटेरे दुनिया भर में सचेत और संगठित तरीके से अपने शोषण-दमन का कुचक्र चला रहे हैं।

इसका दूसरा पहलू भी है। पूरी दुनिया के मजदूर भी अब अपनी जिन्दगी में आने वाले रोज-रोज के बदलावों और पूँजीपतियों-साम्राज्यवादियों के हमलों से शिक्षित हो रहे हैं। अब वे समझने लगे हैं कि वैश्वीकरण जिसका इतना ढोल पीटा जा रहा है, सिर्फ पूँजीपतियों-साम्राज्यवादियों के लिए है। वे किसी भी देश में जाकर पूरे सम्मान और स्वतन्त्रता के साथ वहाँ की धन-सम्पदा और मानवीय श्रम को लूट सकते हैं। लेकिन मजदूर चाहे अपने देश में हो या विदेश में, हर कहीं उन्हें घोर अपमान और शोषण-उत्पीड़न के सिवाय दूसरी किसी चीज का हक नहीं है। इसलिए मजदूर भी अब अपने देश और देश के बाहर भी अपनी एकता के बारे में सोचने लगे हैं। इन लुटेरों-गि)ों से निजात पाने का यही एकमात्र रास्ता है, नहीं तो ये हमारे शरीर से माँस का एक-एक टुकड़ा नोचकर खा जायेंगे।

दिल्ली के प्रोफेसर के साथ बैंक की गुण्डागर्दी

आपको घर बनाने की चिन्ता सता रही है तो हमें बताइये। घर तो आप बनाते हैं, हम तो बस मदद करते हैं। आपके सपनों की कार आयेगी, आपके अपने द्वार। उच्च शिक्षा का महँगा खर्च अब आपके लिए बाधा नहीं बन सकता। इसी तरह के लुभावने नारे लेकर बैंकों के मुलाजिम जनता के बीच जाते हैं और उन्हें उनकी हैसियत से ऊँचे या गैर जरूरी ख्वाब दिखाते हैं और उस ख्वाब को आसानी से जमीन पर उतारने का नुस्खा भी 'झट-पट लोन' के रूप में पेश करते हैं। लेकिन कर्जदारों से वसूली करने के लिए वे कैसा सुलूक करते हैं इसका एक नमूना दिल्ली में देखने को मिला।

इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय दिल्ली के बाहर बैंक के तीन गुण्डों ने भीड़ और छात्रों के सामने एक प्रोफेसर की पिटाई की। प्रो. जे. एस. कालरा बार-बार सीने में उठने वाले दर्द का हवाला देते रहे मगर वे गुण्डें नहीं माने और प्रोफेसर के साथ मारपीट करने लगे। प्रोफेसर बार-बार कर्ज की किश्त जल्द से जल्द अदा करने की बात करते रहे, मगर गुण्डों ने एक नहीं सुनी। वे जबरदस्ती उनकी कार में घुस गये और बाहर निकलने से मना करने लगे। जब प्रोफेसर ने दिल की बीमारी होने तथा सीने में दर्द बढ़ने का हवाला दिया तब जाकर उन्होंने प्रोफेसर को छोड़ा। विरोध स्वरूप प्रोफेसर साहब को पुसिस में रिपोर्ट दर्ज करानी पड़ी।

कर्ज देने से पहले अपने ग्राहकों को लुभाने ङ्कसँानेऋ के लिए ये बैंक तरह-तरह के जाल बुनते हैं। बेरोजगार नौजवानों को ये कम वेतन पर नौकरी पर रखते हैं और उन्हें दर-दर भटकाकर ग्राहक ढूँढ़ने के लिए मजबूर करते हैं। बैंक नौजवान युवक-युवतियों की रीढ़ की हड्डी और उनका स्वाभिमान निकालकर उन्हें हर किसी के आगे झुकने और कर्ज लेने वाले ग्राहकों के आगे गिड़गिड़ाने के लिए मजबूर करते हैं। ये बैंक, टेलीफोन बूथ या मोबाइल कम्पनियों से साँठगाँठ करके मोबाइल धारकों के नम्बर ले लेते हैं और उन्हें काम के समय राह चलते, सोते-जागते कभी भी कॉल करके जबरदस्ती कर्ज की स्कीम समझाते हैं और उन्हें मानसिक रूप से परेशान करते हैं। बदले में उनके कर्मचारियों को झुँझलाये हुए, बदमिजाज ग्राहकों की बेवजह गालियाँ और जलालत के तीर सहने पड़ते हैं। कर्ज देते समय ये बैंक ग्राहकों की सुविधा का पूरा ध्यान रखते हैं और उनके छोटे-से-छोटे काम खुद करते हैं, जैसे-ग्राहक से मनमुताबिक जगह पर मिलना, कर्ज के लिए जरूरी कागजात पूरे करना, फॉर्म भरना, फोटोकॉपी करवाना आदि। यहाँ तक कि ये बैंक ग्राहकों को दो घण्टे के भीतर कर्ज मुहै"या कराने का वादा भी करते हैं। ज्ञात हो कि कर्ज देते समय इन बैंकों के नियम व शर्तें छिपे रहते हैं। लेकिन बाद में तमाम तरह के टैक्स लगा कर ब्याज व किस्त की रकम बढ़ाकर बताने लगते हैं। जब ग्राहक इसकी शिकायत करते हैं तो वे बैंक ''नियम व शर्तें लागू'' का हवाला देकर उनकी बोलती बन्द कर देते हैं। मध्यम वर्ग और उच्च मध्यम वर्ग के लोग बड़े पैमाने पर इन बैंकों के शिकार होते हैं, कर्ज देने से पहले बैंक यह सुनिश्चित कर लेते हैं कि ग्राहक कर्ज की किश्त अदा करने में सक्षम हैं या नहीं। यदि किसी कारण से ग्राहक किश्त की रकम अदा करने में अक्षम रहता है तब ये भेड़िये अपने असली रूप में आ जाते हैं और मुनाफे के लिए शर्मोहया छोड़कर असली क्रूर चरित्र के साथ गुण्डागर्दी पर उतारू हो जाते हैं। अपने ग्राहकों को सरेआम बेइज्जत करने के अलावा ये उन्हें डराने धमकाने और मारपीट करने जैसे घृणित अपराध भी करते हैं, जैसे कि दिल्ली के प्रो. जे. एस. कालरा के साथ किया। उनका कसूर बस इतना सा था कि उन्होंने सैण्ट्रों कार खरीदने के लिए एच. एस. बी. सी. बैंक से साढ़े चार लाख रुपये का कर्ज लिया था।

प्रोफेसर कालरा के साथ बैंक के गुण्डों का अपमानजनक व्यवहार इस बात की ताजा मिसाल है कि किस तरह प्राइवेट बैंक सरेआम न्याय व्यवस्था का मखौल उड़ाते हैं। भारत सरकार और सर्वोच्च न्यायालय ने बैंकों के लिए कर्ज वसूली के न जाने कितने दिशा-निर्देश व नियम बनाये हुए हैं, जिनकी ये बैंक आये दिन धज्जियाँ उड़ाते हैं फिर भी इनका कुछ नहीं बिगड़ता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुनाफे के भूखे इन शिकारियों पर सरकार तथा न्यायालय भी कोई लगाम नहीं लगा सकते।

देश का पढ़ा-लिखा खुशहाल तबका बैंकों के निजीकरण और आर्थिक सुधारों का प्रबल समर्थक रहा है। लेकिन अब उसे इसके कड़वे स्वाद चखने पड़ रहे हैं। देशी-विदेशी बैंक

और ाइनेन्स कम्पनियाँ उपभोक्तावाद को बढ़ावा देकर अपने ग्राहकों की सीमित संख्या को बढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं और आय से अधिक उपभोग को प्रोत्साहित करके लोगों को कर्ज के जाल में ँसा रहे हैं।

''मजदूर को खौलती तेल कड़ाही में डाला''

इटावा जिले के मरतना कस्बे में मिठाई की दुकान के मालिक अनूप गुप्ता ने अपने दलित कर्मचारी सतवीर को उबलते तेल से जलाकर मार डाला। बीमार होने के कारण सतवीर कई दिनों से काम पर नहीं आ रहा था। अनूप गुप्ता अपनी गाड़ी से उसके घर गया और उससे अपने बकाया पैसे की माँग की और उसे बहला-ुसला कर काम के लिए दुकान पर ले आया। जब सतवीर दुकान पर पहुँचा तो अनूप गुप्ता ने उसे बुरी तरह पीटा और उसे उबलते तेल की कड़ाही में डाल दिया। इस घटना की सूचना दुकान के कर्मचारियों ने पुलिस को दी। पहले तो पुलिस इस क्रूर हत्या को दुर्घटना का रूप देने की कोशिश करती रही कि सतवीर मिर्गी के दौरे के कारण उबलते तेल की कड़ाही में गिर गया क्योंकि वह दुकान में अकेला था। लेकिन जब गुस्साये हुए कर्मचारियों ने प्रदर्शन किया तो अनूप गुप्ता ार हो गया और मामले की सच्चाई सामने आ गयी।

मजदूरों के ऊपर मालिकों के वहशियाना जुल्म की यह कोई अकेली घटना नहीं। आये दिन अखबार के किसी कोने में ऐसी खबरें पढ़ने को मिल जाती हैं जबकि ऐसी कितनी ही घटनाएँ खबर नहीं बन पाती।

हमारे देश के लोकतन्त्र का यह विद्रूप चेहरा है जहाँ एक मजदूर की जिन्दगी और मौत उसके हाँ और ना कहने से ही तय हो जाती है। लेकिन अनूप गुप्ता जैसे लोगों का भला कोई क्या बिगाड़ सकता है? जिसके पक्ष में पुलिस-प्रशासन पहले से ही तैयार खड़े हैं और मामले को तरह-तरह के उपायों से दबाने की कोशिश कर रहे हैं। क्या सतवीर की विधवा मुकदमें के दौरान इनके सामने कहीं टिक पायेगी? उसके सामने तो अपना और अपने बच्चों का पेट पालना ही बहुत बड़ी समस्या है।

कुछ ही दिनों में मामला रु-का हो जायेगा और अनूप गुप्ता जैसे लोग छाती चौड़ी किये दूसरे गरीब मजदूरों और दलितों का खून-चूसेंगें। पुलिस-प्रशासन आगे भी उसे इसी तरह संरक्षण देंगे।

गरीबों मजदूरो और दलितों के पास इन्साफ पाने का एक ही रास्ता है। वह रास्ता है उनकी एकता। इसी एकता ने पुलिस को यह मामला दर्ज करने पर मजबूर किया और यही एकता अनूप गुप्ता जैसों की शैतानी का खात्मा भी कर सकती है। गरीबों और मजदूरों का एकमात्र हथियार उनकी एकता ही है और जब तक वे इस हथियार को हासिल नहीं करते उन पर जुल्म ढाये जाते रहेंगे।

इन्द्रा नुई और विक्रम पण्डित की हकीकत

दुनिया के सबसे बड़े कर्जदाता सिटी बैंक ने अपने मुख्य कार्यकारी अधिकारी विक्रम पण्डित को बैंक के शेयर और ऑप्शन्स के रूप में 4 करोड़ डॉलर का बोनस दिया। विक्रम पण्डित ने दिसम्बर 2007 में सिटी बैंक में नौकरी शुरू की थी जिसके एक महीने बाद ही जनवरी 2008 में उन्हें यह तोह्फा मिला।

इसके कुछ ही दिनों पहले सिटी बैंक ने अमरीका, ब्रिटेन और भारत सहित दुनिया भर में काम कर रहे अपने 4200 कर्मचारियों की छँटनी की थी। 2007 की चौथी तिमाही द्धअक्टूबर-दिसम्बरऋ में सिटी बैंक को 9.8 अरब डॉलर का घाटा हुआ था। क्योंकि इस बीच उसे 19 अरब डॉलर के कर्जों को बटा-खाते में डालना पड़ा था। इसका कारण अमरीका में सबप्राइम कर्ज द्धपुराने कर्ज पर दिया गया नया कर्जऋ का संकट था जिसने कई बैंकों को डूबने के कगार पर ला खड़ा किया है। बैंक के 200 वषो ं के इतिहास का, यह सबसे बड़ा घाटा था। विक्रम पण्डित की नियुक्ति सिटी बैंक के उ)ारकर्त्ता के रूप में हुई थी। उसकी कलम की नोंक से हुई 4200 कर्मचारियों की छँटनी इसी दिशा में उठाया गया कदम है। क्योंकि इससे संकट में ँसे बैंक को हर साल करोड़ों डॉलर की बचत होगी। अपने कुछ ही ह"तों

के कार्यकाल में 'पण्डित' ने ऐसे और भी कई कारनामें किये जिसके बदले 4 करोड़ डॉलर का यह तोहफा तो कुछ भी नहीं। दुनिया के सबसे बड़े सूदखोर की कुल लूट में से यह एक बहुत ही तुच्छ हिस्सा है। यह और बात है कि भारत जैसे गरीब देश में सबसे मोटी तनख्वाह वाले निजी और सरकारी बैंकों के 500 शीर्षस्थ अधिकारियों को दिया जाने वाला कुल तोहफा लगभग 20 करोड़ रुपये है। सबसे ज्यादा तनख्वाह पाने वाले बैंक अधिकारी आई. सी. आई. सी. आई. बैंक के के. बी. कामथ का वेतन 2.6 करोड़ रुपये सालाना है।

विक्रम पण्डित को दिया गया, यह बोनस बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की साम्राज्यवादी, कॉरपोरेट संस्कृति का अंग है जिसके अन्तर्गत मुठ्ठीभर शीर्षस्थ प्रबन्धकों को लूट का बड़ा हिस्सा भेंट किया जाता है जबकि भारी संख्या में उसके छोटे कल-पुर्जों और शारीरिक श्रम करने वालों की ना तो पक्की नौकरी होती है और ना ही बेहतर सेवा शर्तें।

साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के चाटुकार भारतीय मीडिया की नजर में यह घटना एक 'भारतीय' का दुनिया का सिरमौर बनना है। शासक वर्गों ने भी अपने वर्ग चरित्र के अनुरूप आचरण करते हुए विक्रम पण्डित को 'पद्म विभूषण' से अलंकृत कर दिया। साम्राज्यवाद और देशी शासकों के बीच दुरभि, संधि के इस दौर में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आगे हमारे शासक अपने आप को बौना पाते हैं और इस देश से पलायन करने वाला एक अदना सा कर्मचारी भी मोटी तनख्वाह पाने के चलते देश के शीर्ष सम्मान से अलंकृत होता है।

डेढ़ साल पहले जब इन्दिरा नूई को पेप्सी कम्पनी का मुख्य कर्ताधर्ता नियुक्त किया गया तो भारत के अमरीका परस्त घेरे में इस बात पर काफी उल्लास देखा गया और एक बार फिर यह भ्रम पैदा किया गया था कि एक भारतीय महिला किस तरह दुनिया की इतनी बड़ी कम्पनी की मैनेजर बन गयी। इन्दिरा नूई को भी सरकार ने 'पद्म-भूषण' सम्मान से अलंकृत किया था।

जनवरी 2008 में इन्दिरा नूई को अमरीका–भारत व्यापार परिषद् नाम की एक अमरीकी संस्था का अध्यक्ष बनाया गया है जिसका उद्देश्य भारत में अमरीकी कम्पनियों के हितों की वकालत करना है। यानि अब वही भारतीय महिला 'देशी मुर्गी-बिलायती बोल' वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए यहाँ विदेशियों का मुनाफा बढ़ाने वाली जिम्मेदारी सम्भालेगी। इस संस्था में भारत में कारोबार करने वाली अमरीका की 250 कम्पनियाँ और लगभग दो दर्जन ऐसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ शामिल हैं जो अपने नाम में इण्डिया लगाकर भारतीय बन जाती हैं जैसे–पेप्सीको ङ्घइण्डियाऋ, ग्लैक्सो ङ्घइण्डियाऋ इत्यादि।

दरअसल विक्रम पण्डित हों या इन्दिरा नूई उनकी सफलता आम भारतीयों की सफलता कतई नहीं है। सच तो यह है कि उनकी सफलता की कीमत यहाँ की आम जनता को ही चुकानी होगी क्योंकि सिटी बैंक और पेप्सी सदाचार के पवित्र उद्देश्य से भारत में व्यापार नहीं करते जिनकी सेवा में ये तथाकथित भारतीय जुते हुए हैं। आर्थिक नव-उपनिवेशवाद के इस दौर में साम्राज्यवाद अपनी जरूरतों के अनुरूप इन गिने-चुने मैनेजरों को अपना नौकर बना रहा है। करोड़ों-अरबों की लूट में से वे एक टुकड़ा इन भारतीय मूल के लोगों की ओर फेंक देंगे ताकि उनकी साम्राज्यवादी लूट पर भारतीय मुखौटा चढ़ा रहे। ये विदेशी कम्पनियाँ अपने सामानों का विज्ञापन करने के लिए भारतीय चेहरों–क्रिकेटरों और हीरो-हिरोइनों पर जब करोड़ों रुपये खर्च कर सकती हैं तो भारतीय मैनेजरों की भर्ती करना कौन सी बड़ी बात है।

विक्रम पण्डित और इन्दिरा नूई जैसे लोग उस ट्रोजन हॉर्स के समान हैं जिसके भीतर छिपकर दुश्मन के सैनिकों ने ट्रॉय के किले में प्रवेश किया था।

क्या इन्दिरा नूई, जब भारत में अमरीकी-कम्पनियों का पक्ष पोषण करेगी तो भारत की जनता और भारत के हितों की परवाह भी करेगी? लुटेरों और लुटने वालों में से वह किसका साथ देगी। विक्रम पण्डित सिटी बैंक के मुनाफे के लिये क्या अपने हजारों भारतीय कर्मचारियों और लाखों कर्जदारों के हितों की बलि नहीं चढ़ायेंगे?

सरकार को इनके लिए 'पद्म-विभूषण' की जगह 'पद्म-विभीषण' पुरस्कार शुरू करना चाहिए जो इनके गुण-धर्म के साथ सटीक बैठेगा लेकिन तब इस पुरस्कार का पटा सबसे पहले हमारे शासकों को खुद अपने गले में भी पहन लेना होगा।

''३०,००० करोड़ रुपये की सरकारी जमीन की बन्दरबाँट''

सरकारी कागजों से 2,289.7 एकड़ जमीन का मालिकाना गायब हो गया। बाजार में इसकी कीमत 30,000 करोड़ रुपये बतायी जा रही है। घटना कर्नाटक की है। वहाँ के पी. डब्लू. डी. के मौजूदा सचिव द्वारा कर्नाटक हाईकोर्ट में दायर एक हलफनामे में कहा गया है कि बैंगलूर–मैसूर ढाँचागत कॉरीडोर द्धबी.एम.आई.सी.ऋ परियोजना के लिए जमीन आवंटित करते समय तत्कालीन पी. डब्लू. डी. के सचिव ने इस परियोजना के काम में लगी नन्दी इन्फ्रास्ट्रक्चर कॉरीडोर एण्टरप्राइजेज लि. को आवंटित 11,966 एकड़ जमीन दी गयी और जमीन के इस आवंटन में कम्पनी से 2,289.7 एकड़ जमीन की कीमत नहीं ली गयी जो उस कम्पनी और सरकारी अधिकारियों के बीच आपसी साँठगाँठ का परिणाम था। यह घटना सेज और विकास के बहाने पूरे देश में धड़ल्ले से चल रही, जमीन की लूट का एक छोटा सा नमूना है। नाम मात्र का मुआवजा देकर किसानों की जमीन हड़पने और उसे पूँजीपतियों के हवाले करने वाली घटनाएँ सिंगूर, नन्दीग्राम, जगतसिंह पुर, रायगढ़, नोएडा, झज्झर सहित देश के कोने-कोने से सुनने को मिल रही हैं। पूँजीशाही नेताशाही और अकसरशाही के इस नापाक गठजोड़ ने जमीन की लूट और किसानों की बेदखली के मामले में अपने अंग्रेज पुरखों को भी पीछे छोड़ दिया है।

अमरीकी शिक्षण संस्थानों में विदेशी छात्रों की भरमार

अमरीकी कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों में पढ़ने वाले विदेशी छात्रों की बढ़ती संख्या, उसकी कमाई का एक महत्त्वपूर्ण जरिया है।

एक रिपोर्ट के अनुसार भारत व चीन के विद्यार्थियों की संख्या वहाँ सबसे अधिक है। इस वर्ष अमरीकी अर्थव्यवस्था में विदेशी विद्यार्थियों का 58,000 करोड़ रुपये का योगदान रहा है जो कि पिछले साल से 4000 करोड़ रुपये अधिक है। अमरीकी वित्त मन्त्रालय का कहना है कि सेवाओं के निर्यात में शिक्षा का पाँचवा स्थान है जो स्वास्थ्य सेवाओं के निर्यात से भी बड़ा है। पिछले सत्र में वहाँ के हर तरह के स्कूलों, कॉलेजों की कमाई में 3 ीसदी वार्षिक की वृ) हुई है। विदेशी विद्यार्थियों की संख्या अमरीका में कुल 5,82,984 है जिनमें 2 लाख भारतीय हैं। अमरीका में पहली बार अध्ययन करने गये विद्यार्थियों की संख्या में पिछले वर्ष 10 ीसदी की वृ) हुई।

स्पष्ट है कि ये विद्यार्थी अगले कुछ वर्षों तक वहाँ रहकर पैसा खर्च करेंगे। विदेशी छात्रों ने 2006-07 में कुल 80,000 करोड़ रुपये से अधिक खर्च किये जिसमें लगभग आधा ट्यूशन ीस पर और आधा रोजमर्रा की चीजों पर खर्च किया गया। इसमें से 14.5 बिलियन डॉलर विद्यार्थियों के देश से और मुख्यत: उनके व्यक्तिगत और पारिवारिक ोत से आया है।

अमरीकी मानते हैं कि दुनिया भर में पानी के बाद सबसे बड़ी कमी उच्च शिक्षा की है। और उनका दावा है कि केवल अमरीका ही इस माँग को पूरा कर सकता है। जाहिर है कि आज अमरीकी कम्पनियाँ हर अभाव को मुनाफे में बदलने पर आमादा हैं, चाहे लोगों की प्यास हो या शिक्षा पाने की आकांक्षा।

दरअसल अमरीका में पढ़ने वाले भारतीय या दूसरे देशों के विद्यार्थी देश की सेवा के लिए विदेशों में पढ़ने नहीं जाते वे अमरीकी बनकर अमरीका की सेवा करने के लिए छात्र वीजा पर वहाँ जाते हैं और वहीं नौकरी करते हैं। हमारे देश में शिक्षा के लिए रोना रोने वाली सरकार विदेशों में शिक्षा के लिए अरबों रुपये की विदेशी मुद्रा की बर्बादी पर रोक क्यों नहीं लगाती? क्या इसलिए कि इनमें से ज्यादातर विद्यार्थी शासक वर्ग की ही सन्तानें हैं? आज जनता के बच्चे तो साक्षर हो जायें वही बड़ी बात है।

काले ान पर रोक : सौ-सौ चूहे खाकर बिल्ली हज को चली

विश्व बैंक और संयुक्त राष्ट्र संघ ने कहा है कि भ्रष्टाचारियों और पूँजीपतियों द्वारा अपने देश के लोगों को लूटकर इकठा की गयी दौलत विदेशों में जमा करने पर धनी देशों को रोक लगानी चाहिए और यह धन गरीब देशों को वापस लौटाया जाना चाहिए। 'नशीली दवा और अपराध विभाग' ने अन्तरराष्ट्रीय खातों में गुप्त रूप से जमा किये गये काले धन की वसूली में सहायता के लिए एक नयी योजना बनायी है।

यह योजना एक शोध के आधाार पर शुरू की गयी, जो दिखाता है कि दुनिया भर में काले धन की भारी पैमाने पर आवाजाही चल रही है। यह राशि अनुमानत: 40 लाख करोड़ रुपया सालाना है।

विश्व बैंक का अनुमान है कि अफीकी देशों के सकल घरेलू उत्पाद का 25 ीसदी हर साल भ्रष्टाचारियों और पूँजीपतियों की भेंट चढ़ जाता है, जो अनुमानत: 5,92,000 करोड़ रुपया है। यदि अफीकी देशों से इतने भारी पैमाने पर धन की लूट पर अंकुश लगाया जाय और इस धन की वसूली करके वहाँ के सामाजिक कार्यक्रमों और आधारभूत ढाँचे के विकास में लगाया जाय तो इन देशों का कायापलट हो सकता है।

अमरीकी तेल कम्पनियों द्वारा कजाखिस्तान के भ्रष्टाचारियों को घूस में दिये गये 8.4 करोड़ डॉलर जो स्विस बैंक के खातों में जमा थे, उसे विश्व बैंक ने मई 2007 में एक समझौते के जरिये कजाखिस्तान को वापस भेजने में मदद की थी। जगजाहिर है कि अमरीकी सत्ता में वहाँ की तेल कम्पनियों का शक्तिशाली हस्तक्षेप है और उन्हीं के स्वार्थों और साजिशों के चलते इराक पर विनाशकारी यु) थोपा गया। यह बात भी किसी से छिपी हुई नहीं है कि विश्व बैंक अमरीका के मन्सूबों को पूरा करने वाली संस्था है और वह अमरीकी तेल कम्पनियों के हित में काम करता है। लेकिन कैसा ढोंग है कि मालिक घूस देते हैं और चाकर बोलता है कि नहीं, यह गलत काम है, ये तो काला धन है, इसे तुरन्त वापस करो और मालिक भी उसकी आज्ञा मानते हुए तुरन्त काला धन वापस कर देते हैं।

विश्व बैंक का एक कर्मचारी कहता है कि गरीब देशों की राजनीतिक पार्टियाँ काले धन की वापसी और वसूली में सहयोग नहीं करती हैं। उसका अनुरोध है कि यदि किसी देश की सरकार काले धन के लिए दावा करे तो विदेशी सरकारों द्वारा पहलकदमी के साथ उनकी सहायता की जानी चाहिए। क्या विश्व बैंक के अधिकारी इतने मासूम और भोले-भाले हैं कि उन्हें यह पता ही नहीं कि लूट का यह धन उन्हीं भ्रष्ट राजनीतिज्ञों और मुनाफाखोर पूँजीपतियों का है, जिनसे वे उम्मीद करते हैं कि वे कहेंगे कि हुजूर हमने अपने देश से चुराकर काला धन विदेशी बैंकों में जमा कर दिया है। अब हम अपने इस पाप का प्रायश्चित करना चाहते हैं। इसलिए आप यह काला धन हमारे देश में वापस भिजवा दीजिये। क्या मजाक है?

इसी बैंक के दो अन्य लोग कहते हैं कि धनी देश भी इस समस्या को हल नहीं कर पाये हैं। इनसे पूछना चाहिए कि जो खुद ही समस्या को पैदा करने वाले हों, भला वे क्या समस्या को हल करना चाहेंगे? उनको पागल कुत्ते ने काटा है क्या?

विश्व बैंक के अध्यक्ष जोइलिक कहते हैं कि विकासशील देशों को अपने नियन्त्रण और उत्तरदायित्व में सुधार करने की आवश्यकता है, लेकिन विकसित देशों को भी चोरी के काले धन के लिए में सुरक्षित स्थान उपलब्ध करवाने पर रोक लगानी चाहिए।

विश्व बैंक अध्यक्ष के वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि गरीब देशों के भ्रष्ट राजनेता और पूँजीपति विदेशों में काला धन इसलिए रखते हैं क्योंकि यह धन वहाँ पर पूरी तरह सुरक्षित होता है। धनी देश इसलिए सुरक्षित स्थान मुहै"या करवाते हैं कि वे उसी काले धन से पूरी दुनिया को कर्ज बाँटते हैं और लोगों का खून निचोड़-निचोड़कर अपनी तिजोरियाँ भरते हैं। कहावत है कि ''चोर-चोर मौसेरे भाई।'' जब दोनों ही लूटने वाले हैं तो वे क्या समस्या का हल करेंगे?

संयुक्त राष्ट्र संघ के भ्रष्टाचार विरोधी सम्मेलन में औद्योगिकृत देशों, जी-8 के आधे और आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन के भी आधे सदस्यों ने ही भ्रष्टाचार पर रोक

लगाने पर अपनी सहमति दी है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने तय किया है कि वह उन देशों पर भी दबाव डालेगा जिनके कानूनों की आड़ में बड़ी कम्पनियाँ दूसरे देशों में कर चुराती हैं। मॉरिशस एक ऐसा ही देश है, जहाँ पंजीकृत कम्पनियाँ भारत या किसी अन्य देश में कानून की आड़ में कर चोरी करती हैं। दुनिया भर में सट्टेबाजी करने वाली 54 अन्तरराष्ट्रीय मान्यता प्राप्त वित्तीय संस्थाओं में से 13 ने ही इस भ्रष्टाचार विरोधी सम्मेलन के फैसलों पर अपनी सहमति दी है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के दोनों वक्तव्यों ने अमीर देशों के भ्रष्टाचार विरोधी अभियानों के खोखलेपन को जाहिर कर दिया है। साम्राज्यवादी देशों और उनके सटेबाजों ने यह जता दिया कि वे भ्रष्टाचार को खत्म करना नहीं चाहते हैं क्योंकि दोनों ही भ्रष्टाचार पर जिन्दा हैं। उनके किसी भी काम को शिष्टाचार नहीं कहा जा सकता।

इन संस्थानों ने अलग-अलग घटनाओं का उदाहरण दिया है। इनमें से एक है पेरू, जिसने करीब 180 करोड़ डॉलर काले धन की वसूली की है। पेरू के खुफिया प्रमुख वलादिमीर मोनटेसिनोस ने पाँच सालों में स्विट्जरलैण्ड, कोयमान द्वीप और अमरीका सहित कई देशों में अपनी कमाई जमा की थी।

फिलिपीन्स में भी, वहाँ के भूतपूर्व तानाशाह फर्डीनेण्ड मारकोस द्वारा स्विस बैंक खाते में जमा 62.4 करोड़ डॉलर के लिए न्यायालय में 18 सालों से मुकदमा चल रहा है।

भारत के भ्रष्टाचारी भी किसी से पीछे नहीं हैं। अनुमान है कि भारत का 10-15 लाख करोड़ रुपये का काला धन विदेशों में जमा है और देश के भीतर भी काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था मौजूद है। हमारे यहाँ के भ्रष्टाचारियों ने भ्रष्टाचार मिटाने का एक नायाब तरीका कुछ वर्ष पहले आजमाया था। इसका नाम 'काले धन की स्वैच्छिक घोषणा' था। भ्रष्टाचारी सरकार के पास जाते और अपने काले धन में से 40 फीसदी सरकारी खाते में डालकर अपना काला धन सफेद कर लेते। लेकिन भ्रष्टाचारियों ने यहाँ भी सहयोग नहीं किया, उनका कहना था कि मेरा धन काला ही ठीक है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि दुनिया भर में बड़े पैमाने पर काला धन जमा है। अगर इसे जब्त कर लिया जाये तो सामाजिक कल्याण (स्कूल, चिकित्सा, सिंचाई, बिजली, खाद्य सुरक्षा) के काम आसानी से पूरे किये जा सकते हैं। लेकिन हमारी सरकारों को इन सब कामों से कोई सरोकार नहीं है।

काले धन के इस खेल में देशी-विदेशी सरकारें और पूँजीपति सभी लिप्त हैं। यह कारोबार इन सबके जिन्दा रहने की शर्त है। लेकिन बहुत पुरानी कहावत है कि ''अति हर चीज की बुरी होती है'' और ''पाप का घड़ा एक हद के बाद फूटता है।'' अब साम्राज्यवाद की अति हो चुकी है। साम्राज्यवादियों ने पहले तो दुनिया को लूटने के अपने कुचक्र में भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया। पेरू और फिलिपीन्स अमरीका के नव-उपनिवेश रहे हैं। अमरीका वहाँ अपने कठपुतली शासकों के साथ साँठगाँठ करके वहाँ की धन सम्पदा लूटकर अपनी तिजोरियाँ भरता था। जब उसको लगता था कि हाल-बेहाल हो चुकी जनता विद्रोह करेगी, तब अमरीका वहाँ के राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों को खूब पैसा खिलाता था और उनसे जनता का दमन करवाता था। इस घूस के पैसे को ये भ्रष्टाचारी विदेशी बैंकों में जमा करते थे। इसी पैसे को विदेशी बैंक दुनिया भर में ;ण के रूप में बाँटते हैं। यहाँ तक, यह भ्रष्टाचार अमरीका और साम्राज्यवाद को लाभ पहुँचा रहा था। लेकिन जब किसी शिकार को नोचने में सियार और भेड़िया लगे पड़े हो तो वे चाहते हैं कि कुत्तो-बिल्लियों पर थोड़ा नियन्त्रण रखा जाये और ये केवल शिकार की हड्डियाँ चाटने तक ही सीमित रहें। वे चाहते हैं कि उनका शिकार कुछ दिन और चलता रहे तभी वे जिन्दा बने रह सकते हैं। इसी के चलते अब साम्राज्यवादी संस्थाएँ इन गरीब देशों के भ्रष्टाचारियों पर नकेल लगाने की कोशिश कर रही हैं।

भ्रष्टाचार पूँजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था का अभिन्न अंग है। जब तक यह व्यवस्था है तब तक भ्रष्टाचार भी खत्म नहीं हो सकता। जिस दिन यह व्यवस्था खत्म हो जायेगी, उसी दिन भ्रष्टाचार और काला धन स्वत: ही समाप्त हो जायेगा।

खराब जासूसी उपग्रह के बहाने अमरीका द्वारा अन्तरिक्ष में हथियारों की होड़

पिछले दिनों अमरीकी जासूसी उपग्रह यू. एस.–193 के अन्तरिक्ष में खराब होने, धरती पर उसके गिरने से होने वाले नुकसान की आशंका और अमरीकी मिसाइलों द्वारा उसे आकाश में नष्ट कर, समुद्र में गिराने की बातें खबरों में छायी रहीं।

अमरीका का कहना था कि उपग्रह के पृथ्वी पर टकराने से जो तबाही हो सकती थी, उसे टालने के लिए ही उसने यह ऑपरेशन चलाया। उस उपग्रह पर 1000 गैलन जहरीला ईंधन हाइड्रोजन था और साथ ही जासूसी के कुछ ऐसे उपकरण थे, जिन्हें अमरीका दुनिया से छुपाना चाहता था। लेकिन मामला इतना सरल नहीं है। दरअसल उपग्रह के दुर्घटना ग्रस्त होने और उसे धरती मार गिराने की इस सारी कवायद के पीछे अमरीका की असली मन्शा अपनी नयी एण्टी मिसाइल रक्षा प्रणाली की जाँच करना और अपनी सैनिक श्रेष्ठता का प्रदर्शन करना था। निश्चय ही यह सारी कार्रवाई अन्तरिक्ष में हथियारों की होड़ को बढ़ावा देने और दुनिया भर में अपने हथियारों की बिक्री बढ़ाने की साम्राज्यवादी कारगुजारियों का हिस्सा है।

जनवरी 2007 में चीन ने भी अपने एक खराब उपग्रह का बैलिस्टिक मिसाइल से पीछा करके उसे मार गिराया था। रूस भी इस काम में सक्षम है। अमरीका भला कैसे पीछे रह जाता। उसने इसी बहाने अपनी अत्याधुनिक एस. एम. –3 मिसाइल का परीक्षण कर लिया जो 5000 कि. मी. प्रति घण्टा की र"तार से अपने लक्ष्य की ओर जाती है। एस. एम.–3 मिसाइल को जिस ईजिस मिसाइल रक्षा प्रणाली से दागा गया था, उसे लौकहीड मार्टिन कम्पनी तैयार करती है। इस कम्पनी के प्रमुख ने भारत दौरे के समय कहा था कि ''अगर आप इसकी ज़रमाइश करेंगे तो आप को मिल जायेगा'' लेकिन उसका अभिप्राय पुराने संस्करण की मिसाइल प्रणाली से था। नयी एस. एम.–3 मिसाइल अमरीका के सबसे करीबी देशों जापान, दक्षिण कोरिया और आस्ट्रेलिया को ही बेची जाती है। इसे दागने पर लगभग 6 करोड़ डॉलर द्ध240 करोड़ रुपयेऋ का खर्च आता है।

इस शक्ति परीक्षण के पीछे हथियार प्रेमी मुल्कों को लुभाना और उससे करोड़ों डॉलर का सौदा करना भी है। भारत के शासक भी इस दिशा में अमरीका और इजराइल की नकल कर रहे हैं और देश को 'महाशक्ति' बनाने का झूठा ख्वाब दिखाते हुए, इस पर हजारों करोड़ रुपये पानी की तरह बहा रहे हैं। इजराइली ग्रीन पाइन रडार पर आधारित मध्यम श्रेणी की मिसाइल का परीक्षण हो चुका है। मीडिया में ऐसी रिपोर्टें भी आयी हैं कि भारत की रूचि ईजिस मिसाइल प्रणाली में है हालाँकि औपचारिक रूप से ऐसा प्रस्ताव अभी नहीं किया गया है।

हथियारों की होड़, अमरीकी साम्राज्यवादियों के लिए कोई नयी नहीं है। रोनाल्ड रीगन के स्टार वार और रणनीतिक प्रतिरक्षा पहल के जमाने से ही अमरीका मिसाइल के क्षेत्र में तेजी से कदम बढ़ाता रहा है। दुनिया पर अपने एकछत्र वर्चस्व को बनाये रखने के लिए वह खुद तो हथियारों का जखीरा बढ़ाता ही है, अपने रणनीतिक साझीदारों द्धभारत इस जमात में हाल ही में शामिल हुआ हैऋ को भी इसके लिए उकसाता रहता है। इसकी प्रतिक्रिया में उसके वर्तमान और भावी प्रतिस्पर्धी भी इस घातक रास्ते पर चलने को बाध्य होते हैं। कुल मिलाकर वह एक ऐसा दुश्चक्र तैयार करता है जो पूरी मानवता के लिए विनाशकारी है।

इस घटना का दुनिया भर में कड़ी विरोध हुआ। चीन और रूस खुद मिसाइल रक्षा प्रणाली में कड़ी समर्थ हैं और अमरीका के लिए वास्तविक चुनौती भी वे ही हैं। इन दोनों देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ को एक मसविदा सन्धि पत्र दिया है जिसमें अन्तरिक्ष में हथियारों की तैनाती और उपग्रहों के खिलाफ़ हथियारों के इस्तेमाल या इसकी धमकी देने पर प्रतिबन्ध लगने की बात की है। अमरीका ने ऐसे किसी भी प्रतिबन्ध के विचार को खारिज किया है। रूस और चीन ही नहीं बल्कि अमरीकी रणनीतिक संस्थाओं की ओर से भी इस तरह के परीक्षण और हथियारों की होड़ के प्रति चिन्ता जतायी गयी है। कुछ महीने पहले व्लादिमीर पुतिन ने रूस की सीमा के करीब अमरीका द्वारा मिसाइल लगाने

पर आक्रोश व्यक्त किया था और इसका करारा जवाब देने की धमकी दी थी।

आज दुनिया भर में हजारों नाभिकीय हथियार मौजूद हैं जो इस ग्रह का कई बार विनाश करने के लिए काफी हैं। अन्तरिक्ष को भी अपने हथियारों की जद में लेने वाला यह साम्राज्यवादी कुचक्र, दुनिया की जनता के लिए गम्भीर सवाल है। इसका जवाब दुनिया की जनता के पास है साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था के खिलाफ निर्णायक संघर्ष!

विदेशी कम्पनियों पर करोड़ों का बकाया

भारत में व्यापार कर रही तीन दर्जन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर सरकार का 3500 करोड़ रुपये का कर बकाया है। इन कम्पनियों में कोका कोला, एरिक्सन, देवूमोटर्स और सैमसंग प्रमुख हैं। वित्त मन्त्रालय के अनुसार एरिक्सन एबी पर 472.10 करोड़ रुपये, देवू मोटर्स पर 442.72 करोड़ रुपये, कोका कोला पर 424.75 करोड़ रुपये, सैमसंग पर 132. 84 करोड़ रुपये, स्टार इण्डिया लिमिटेड पर 178.42 करोड़ रुपये, निकोरिसोर्सेज पर 139.72 करोड़ रुपये का राजस्व बकाया है। ये आँकड़े तो केवल उन कम्पनियों के हैं जिन पर 25 करोड़ से ज्यादा बकाया है जिन कम्पनियों पर 25 करोड़ से कम बकाया है उन्हें भी शामिल कर लें तो लगभग सभी कम्पनियाँ इस काली-सूची में शामिल हो जायेंगी।

3500 करोड़ रुपये बाकी होने पर भी सरकार इन कम्पनियों के खिलाफ कोई कदम नहीं उठा रही है। उल्टा उन्हें लगातार नयी-नयी सुविधाएँ देती जा रही हैं। यह वही सरकार है जो दो-चार हजार रुपये वाले बकायादारों, देश के किसानों, मजदूरों और छोटे कारोबारियों को जेलों में डाल देती है।

क्या देश की जनता ने इस सरकार को देश और देश की जनता के हित में काम करने के लिए चुना है या बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की सेवा करने के लिए?

नया इराकी तेल कानून

इराक में बढ़ते खून-खराबे के बीच अमरीकी राष्ट्रपति बुश ने इराकी संसद को एक तेल कानून पास करने के लिए 31 मई तक का समय दिया था। इस कानून के लागू होने पर इराकी तेल क्षेत्रों पर अगले तीन दशकों तक बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का नियन्त्रण कायम हो जाना था। साथ ही इस कानून में यह भी प्रावधान था कि विदेशी कम्पनियाँ तेल के ठेके देने वाली राष्ट्रीय परिषद् में भी बैठेंगी। इस कानून का प्रारूप तैयार करने और पास करवाने के पीछे बड़ी तेल कम्पनियों का दबाव काम कर रहा था जबकि इराकी नेता शुरू से ही इसका विरोध कर रहे थे।

इराक के सकल घरेलू उत्पाद का 70 फीसदी तेल से प्राप्त होता है। इराकी तेल यूनियनों की फेडरेशन के मुखिया हसन जुमा आविद ने हाल ही में इस स्थिति पर क्षोभ व्यक्त करते हुए कहा कि ''इराक बहुत कठिन दौर से गुजर रहा है। इसलिए सभी उसका शिकार करना चाहते हैं। सभी जानते हैं कि यह तेल कानून इराकी जनता के हित में नहीं है, फिर भी बुश अपने चमचों और विदेशी कम्पनियों को फायदा पहुँचाने के लिए इसे लागू कराना चाहता है।'' इराक के शिया, सुन्नी और कुर्द नेताओं के बीच आपसी मतभेदों के बावजूद अमरीका इसे पारित करवाने में असफल रहा।

अरबपतियों की सूची में भारतीय

फोर्ब्स पत्रिका ने वर्ष 2008 के अरबपतियों की सूची जारी की है। पिछले साल के मुकाबले इस वर्ष अरबपतियों की संख्या में लगभग 6 गुना बढ़ोत्तरी हुई है। 2007 में पूरी दुनिया में 179 अरबपति थे जबकि इस साल उनकी संख्या बढ़कर 1,125 हो गयी है। इन 1,125 अरबपतियों के पास कुल 4,400 करोड़ डॉलर (1,76,000 करोड़ रुपये) की सम्पत्ति है। 211 अरबपतियों के साथ एशिया इस सूची में सबसे आगे है, इसमें से 53 अरबपति अकेले भारत में है जिनकी कुल सम्पत्ति 340.90 करोड़ डॉलर (13,63,000 करोड़ रुपये) है इसके बाद चीन में 42, हाँगकाँग में 26 और जापान में केवल 24 अरबपति हैं।

अरबपतियों की सूची में सबसे ऊपर के 10 नामों

में से चार अरबपति भारत के हैं। पिछले साल चोटी के 10 नामों में भारत के केवल एक अरबपति का नाम था। भारत की ओर से पहला स्थान स्टील किंग लक्ष्मी मित्तल द्ध45 अरब डॉलरऋ दूसरा स्थान मुकेश अम्बानी द्ध43 अरब डॉलरऋ तीसरा स्थान अनिल अम्बानी द्ध42 अरब डॉलरऋ चौथा स्थान डी. एल. एफ. के के. पी. सिंह द्ध30 अरब डॉलरऋ का है।

इस सूची को देखने से लगता है कि पूरी दुनिया आज दिन-दूनी रात चौगुनी तरक्की कर रही है और इस र"तार में भारत सबसे आगे है।

अरबपतियों की बढ़ती संख्या के बरअक्स एक दूसरा हिन्दुस्तान भी है जिसमें भुखमरी व कंगाली बेहिसाब बढ़ रही है, इस दूसरे हिन्दुस्तान में पिछले आठ सालों में एक लाख साठ हजार से ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की है और सेज के नाम पर उनकी उपजाऊ जमीन छीनी जा रही है जहाँ बड़े-बड़े शॉपिंग मॉल खोलने के कारण पुराने पैठ और बाजार उजाड़े जा रहे हैं। जहाँ प्रति वर्ष लगभग डेढ़ लाख औरतें बच्चा पैदा करते समय मर जाती हैं। जहाँ बच्चों के कुपोषण और बीमारी की स्थिति सुडान, युगाण्डा, सोमालिया और कांगो के समान है। जिस देश में 5 वर्ष से कम उम्र के करोड़ों बच्चे कुपोषण के शिकार हैं, जहाँ निठारी जैसे जघन्य काण्ड होते हैं और अपराधी बेखौफ हैं, जहाँ धार्मिक दंगों में आदमी कीड़े-मकोड़े की तरह कुचल दिये जाते हैं। जिस देश की राजधानी के हजारों लोगों के लिए ुटपाथ हर रात रैन बसेरा बन जाते हैं। जहाँ अरब तक की संख्या अधिकांश आबादी की समझ से बाहर होती है। वहाँ अरबपतियों की संख्या का क्या मतलब है? यही कि देश में गरीबी-अमीरी की खाई बेलगाम-बेहिसाब है। एक तरु पूँजी का बेशुमार ढेर और दूसरी तरु भुखमरी और कंगाली की गहराती खाई। ये आँकड़े विकास को दर्शाने वाले नहीं बल्कि यहाँ के शासक वर्गों के आपराधिक कारनामों के सबूत हैं।

भ्रष्टाचार और पूँजीवाद का याराना : हथियार घोटाला

हाल ही में 1160 करोड़ के बराक मिसाइल सौदे के घोटाले में लिप्त सुरेश नन्दा और उसके बेटे संजीव नन्दा की गिर"तारी हुई। यह वही शख्स है जिसने नशे में गाड़ी चलाते हुए बी. एम. डब्लू. कार से कई लोगों को कुचल दिया था और पैसे के दम पर बेदाग बच गया था। इस हथियार खरीद घोटाले के मामले में सजा से बचने के लिए भी उसने वही हथकण्डा अपनाया था, लेकिन वह जाँच अधिकारी को घूस देते रंगे हाथों पकड़ा गया। इस मामले की जाँच कर रहे आयकर विभाग के अधिकारी आशुतोष वर्मा ने सी. बी. आई. छापे के ठीक पहले किसी को ोन पर बताया था कि नन्दा ने उसे जितना पैसा दिया, वह उसकी जिन्दगी भर की कमाई से 10 गुना ज्यादा है।

यह स्वीकारोक्ति ही हमारे देश के शासकों की मन्शा को जगजाहिर कर देती है कि क्यों हमारे शासक अपने ही देश के बड़े रक्षा अनुसंधान केन्द्रों की अनदेखी करके विदेशों से हथियारों की सौदेबाजी कर रहे हैं।

आज भारत हथियारों का सबसे बड़ा बाजार बना दिया गया है। कारगिल यु) के बाद भारत ने एक लाख करोड़ रुपये के हथियारों की खरीदारी की है जिसमें अमरीका से 6 हरक्युलिस यातायात वायुयान और 3 पेट्रियाट एण्टी बैलिस्टिक मिसाइल शामिल हैं। इतने बड़े सौदों में सैन्य अफसरों और हथियारों के दलालों के साथ-साथ स्फेदपोश लोगों ने कितना पैसा खाया होगा, इसका हिसाब लगाना कठिन है। पिछले कुछ वर्षों में बोफोर्स तोप घोटाला और ताबूत घोटाला जैसे कितने ही मामले सुर्खियों में रहे हैं। जहाँ एक तरु दुनिया भर में सबसे ज्यादा कुपोषण के शिकार बच्चे भारत में हैं, वहीं भारत का पूरा सैन्य खर्च लगभग 1,40,000 करोड़ रुपये सालाना है, जो स्वास्थ्य और शिक्षा दोनों पर होने वाले कुल खर्च से भी अधिक है।

हथियारों की बड़ी कम्पनियों का मुनाफा बरकरार रखने के लिए ही भारत सरकार ने अमरीका के साथ 26 नवरी को ''सम्भारतन्त्र सहायक समझौता'' किया है, जिसके तहत भारत अमरीका से ज्यादा से ज्यादा हथियारों को खरीदेगा, अमरीकी लड़ाकू जहाजों में ईंधन भरवाने की सुविधा देगा और अमरीकी सैनिकों के यातायात, निवास और भोजन की व्यवस्था करेगा। सनसनीखेज और मसालेदार खबरें पेश करने वाला मीडिया कितनी आसानी से ऐसे महत्त्वपूर्ण मुद्दों को गोल कर जाता है। एक इजराइली

अखबार ने अपने हथियार उद्योग की डींग हाँकते हुए और उसकी सफलता का बखान करते हुए भारत के हथियारों के सौदे में 4400 करोड़ रुपये के घोटाले की बात स्वीकार की है। इसी अखबार से पता चला कि हथियारों का सौदा 5 गुना अधिक दाम पर किया गया।

हाल ही में इटली के साथ हुए सौदे में खरीदे गये जूते, सियाचीन की ठण्ड बर्दाश्त नहीं कर सके, जिससे सैनिकों का वहाँ रहना दूभर हो गया। मिग विमान गिरने से आये दिन वायु सैनिकों की मौत होती रहती है। आज भ्रष्टाचार और पूँजीवाद का याराना खुलकर सामने आ गया है। भ्रष्टाचार पूँजीपतियों की पूँजी बढ़ाने का एक जरिया है। यह उनकी पूरी लूट का एक बहुत छोटा सा हिस्सा है। पूँजीवाद के अधीन भ्रष्टाचार ही शिष्टाचार है। इसलिए इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार से निजात नहीं पायी जा सकती।

बेरोजगारी एक अभिशाप

जयपुर में आमेर के निकट कुण्डा गाँव में केन्द्रीय औद्योगिक सुरक्षा बल द्धसी. आई. एस. एफ.ऋ में कुक, हेल्पर, फिटर आदि के 400 रिक्त पदों की भर्ती के लिए 60,000 नौजवान पहुँचे। किसी भी कीमत पर नौकरी पाने के लिए आतुर नौजवानों की इस भीड़ को नियन्त्रित करने की पर्याप्त व्यवस्था नहीं थी। वे भर्ती की लाइन में लगने के लिए दीवार फाँद कर भागने लगे। इस भगदड़ में कुचलकर एक नौजवान मर गया जबकि 4 अन्य को बुरी तरह घायल अवस्था में अस्पताल में भर्ती कराया गया।

सैनिक-अ)सैनिक बलों की भर्ती के समय होने वाला यह पहला हादसा नहीं है। छपरा, भागलपुर, मेरठ, लखनऊ, जयपुर ...। यह सूची काफी लम्बी है। देश में बेरोजगार नौजवानों की भारी तादाद मौजूद है, जिन्हें घर से लेकर भर्तियों तक हर जगह, हर रोज अपमान के घूँट पीने पड़ते हैं। पूँजीपतियों और सरकार के लिए 100 कुत्ते इकठे करने से ज्यादा आसान हो गया है, 100 बेरोजगार नौजवानों को इकठा करना।'' एक नौकरी का विज्ञापन निकालते ही बेरोगजारों की यह भीड़ दौड़ पड़ती है।

बेरोजगारों की इसी भीड़ के दम पर राज ठाकरे जैसे लोग घिनौनी राजनीति करते हैं, उनमें एक-दूसरे के खिलाफ नफरत और हिंसा भड़का कर वे अपना उल्लू सीधा करते हैं। असम वालों को बिहार वालों के खिलाफ, महाराष्ट्र वालों को यूपी-बिहार के लोगों के खिलाफ, पश्चिमी यूपी के नौजवानों को पूर्वी यूपी के नौजवानों के खिलाफ और एक जाति के बेरोजगार नौजवानों को दूसरी जाति के नौजवानों के खिलाफ भड़काया जाता है।

अगर बेरोजगार नौजवानों की इस विपुल शक्ति को देश के निर्माण में लगाया जाता तो क्या देश का नक्शा नहीं बदल जाता? लेकिन इसके बजाय, वे नौकरी के लिए दर-दर भटकने, उसके लिए राजनीतिज्ञों के हाथों का खिलौना बनने और एक दूसरे को कुचल कर मार डालने के लिए अभिशप्त हैं। इस व्यवस्था और इसके संचालकों के रहते बेरोजगारी खत्म नहीं हो सकती। देश के नौजवानों को इस चक्रव्यूह से बाहर निकलने के लिए खुद ही आगे आना होगा और मिलजुल कर अपनी इस दुर्दशा से निजात पाने का कोई कारगर उपाय ढूँढ़ना होगा।

बिजनौर में प्रशासन से त्रास्त किसान ने आत्मदाह किया

10 अप्रैल 2008 को जनपद मुख्यालय बिजनौर में जिलाधिकारी और पुलिस की मौजूदगी में एक किसान ने मिटी का तेल छिड़ककर आत्मदाह किया। सरकारी अमले और पत्रकार इस हृदय विदारक दृश्य को तमाशबीन की तरह देखते रहे।

हल्दौर थाना क्षेत्र के गाँव कुम्हारपुरा का किसान अशोक, पिछले कई सालों से अपनी सात बीघा जमीन पर कब्जा दिलाने के लिए चकबन्दी कार्यालय के चक्कर काट रहा था। अधिकारियों और कर्मचारियों को रिश्वत देने में उसकी पत्नी के सारे जेवर बिक गये। पहले तो जमीन का कब्जा ही नहीं मिल पाया, ऊपर से वह जो मेहनत मजदूरी करके कमाता था, वह भी मुकदमे की तारीखों पर आने जाने में ही खर्च होता रहा। अधिकारियों को 35 हजार रुपये से

ज्यादा रिश्वत देने के बावजूद उसे जमीन का कब्जा नहीं मिला। घर में खाने के लाले पड़ने लगे। और अधिक पैसा खर्च करना उसके वश में नहीं रहा। अधिकारियों के सामने हाथ जोड़कर विनती करके, उसने बताया कि अगर उसे उसकी जमीन पर कब्जा नहीं दिलाया गया तो उसका परिवार भूखा मर जायेगा। लेकिन व्यवस्था पोषक इन्सान रूपी भेड़ियों के दिल में रहम की एक किरण तक न जाग सकी।

जिस कानून से न्याय की आस लगाये अशोक अब तक जी रहा था, उसके पैरोकारों ने उसका सब कुछ लूटने के बाद भी उसे इन्साफ नहीं दिया। हर तरु से हताश और निराश होकर उसने सम्बन्धित चकबन्दी अधिकारियों को साफ-साफ चेतावनी दी कि यदि मुझे न्याय नहीं मिला तो मैं इसी न्यायालय में आत्मदाह कर लूँगा। 10 अप्रैल के दिन जब अशोक धूँ-धूँ करके जल रहा था, मीडिया वाले चटपटी खबर बनाने के लिए उसके ोटो खींच रहे थे। तमाशबीन अधिकारियों के चेहरों पर दर्द के अहसास की एक लकीर तक नहीं थी। अन्ततः उसकी जीवन लीला समाप्त हो गयी। लेकिन इस घटना से एक ज्वलंत सवाल खड़ा हो गया। अशोक को आत्मदाह के लिए मजबूर करने वाले शासन और प्रशासन को सजा कौन देगा?

ये घटना कोई अकेली घटना नहीं है। पिछले आठ सालों में एक लाख साठ हजार से भी ज्यादा किसान इसी तरह सरकार की नीतियों से त्रस्त होकर आत्महत्या कर चुके हैं। इसी कड़ी में एक संख्या और बढ़ गयी और प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। इतना ही नहीं अब तो भूख से होने वाली मौतों का ग्राफ भी बढ़ता जा रहा है। इससे ज्यादा शर्मनाक बात और क्या होगी कि कृषि प्रधान देश जो कठी प्रयत्न के बाद खाद्यान्न में आत्मनिर्भर हो गया था आज वहाँ भूख से मौतें हो रही हैं। इस देश के नीति निर्धारकों की हृदयहीनता का इससे बड़ा सबूत और क्या होगा कि देश का अन्नदाता इतनी बड़ी संख्या में आत्महत्या करे और उसे रोकने का कोई गम्भीर प्रयास न किया जाये। इसके विपरीत सरकार शेयर सूचकांक और विकास दर को देश के विकास का पैमाना मानकर जश्न मना रही है।

आदमी अपने आप अपने गले में ाँसी का न्दा डालकर जान दे दे, ये कोई छोटी-मोटी बात नहीं है। कोई इक्का-दुक्का आदमी अपनी किसी व्यक्तिगत ग्लानि के चलते ऐसा करे तो नजर अन्दाज किया जा सकता है। लेकिन इतनी बड़ी संख्या में किसानों की आत्महत्या जिसका सिलसिला रुकने का नाम नहीं ले रहा है, अवश्य ही इसके कुछ गम्भीर निहितार्थ हैं। ये हालात अचानक पैदा नहीं हुए हैं।

आजादी के बाद देश में जो विक्लांग और बीमार पूँजीवादी व्यवस्था कायम की गयी, उसी के साथ किसानों और तमाम मेहनतकश लोगों की दुष्वारियों की कहानी भी शुरू हुई। पूँजीवाद जिस आधार पर टिका होता है उसे अर्थशास्त्र की भाषा में शोषण कहते हैं। लेकिन आम बोलचाल की भाषा में इसे पूँजीपति वर्ग द्वारा मेहनतकश वर्ग की लूट के रूप में जाना जाता है। इस लूट के चलते ही गम्भीर से गम्भीर समस्याएँ पैदा होती हैं। पूँजीपति वर्ग नये-नये तरीके अपनाकर जितनी ज्यादा से ज्यादा लूट को बढ़ाता जाता है, उतनी ही विकट समस्याएँ जनता को झेलनी पड़ती हैं। अब अखबारों और टी. वी. चैनलों पर सुर्खियों में आत्महत्याओं की खबरें आने लगी हैं। आन्धप्रदेश, विदर्भ, कालाहाँडी, पंजाब को पार करते हुए आत्महत्या की महामारी ने बुन्देलखण्ड को निशाना बनाते हुए, अब उत्तर प्रदेश के बिजनौर में भी दस्तक दे दी है। ऐसा नहीं कि अन्य प्रान्तों में यह सिलसिला रुक गया है। वहाँ भी इसका दौर निरन्तर जारी है। पता नहीं कब यह महामारी किसका द्वार खटखटा दे।

सबसे निराशाजनक बात यह है कि देश में इतनी बड़ी त्रासदी के बाद भी मेहनतकश जनता में जरा भी सुगबुगाहट नहीं है। देश के अधिकांश भागों से रोजाना आत्महत्याओं की खबरें मिलने के बाद भी किसान चुप हैं। उनमें वर्गीय चेतना कहीं नजर नहीं आती। जनता के अन्दर निराशा पूरी तरह से छा चुकी है। उसे इन सभी समस्याओं से निजात पाने का कोई रास्ता नज़र नहीं आ रहा है।

मौजूदा राजनीतिक माहौल में दूर-दूर तक कहीं रोशनी की किरण नजर नहीं आती। जब तक वर्गीय चेतना से लैस एक बेहतर जिन्दगी का सपना लेकर क्रान्तिकारी नौजवान, उन्हें नहीं जगायेंगे, उनकी एकता और संगठन नहीं बनायेंगे, तब तक यह सिलसिला रुकेगा नहीं। जैसे ही मेहनतकश वर्ग का सामाजिक गतिरोध टूटेगा, दुनिया की कोई ताकत उसके सामने नहीं टिक पायेगी। ु

पत्रा-एक
शाकिर की कविताओं पर एक क्षुब्ध नोट

देश–विदेश अंक 6 में 'बस्तर से कविता' शीर्षक से शाकिर अली की कविताएँ प्रकाशित की गयी थीं। जिन्हें 'पहल' से लिया गया था। शाकिर की कविताओं पर पहल–87 में कई प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित हुई थीं जिनमें से दो प्रतिक्रियाएँ हम पहल के प्रति आभार सहित यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं जो वर्तमान समय, राजनीति और कविता के अन्तर्सम्बन्धों पर विचार–विमर्श में सहायक हैं।

शाकिर अली की कविताओं पर मैं अपनी प्रतिक्रिया भेज रहा हूँ। इन पर एक व्यापक बहस होनी चाहिए। बस्तर की स्थितियों पर जितने अनर्गल प्रचार मीडिया ने किये हैं, उससे कम वहाँ मौजूद साहित्यकारों ने भी नहीं किया है, शाकिर की कविताएँ अपने आप में खुद इतनी सक्षम नहीं हैं तभी तो कविता के पहले उन्होंने बहुत बीचबचाव करने वाली टिप्पणी लिखी है।

बस्तर में स्थितियाँ इतनी स्पष्ट हैं कि दुश्मन और दोस्त आसानी से पहचाने जा सकते हैं, लेकिन शाकिर की कविताएँ इस पहचान को कुन्द करते हुए बीच का सुविधापरक रास्ता खोजती है। आज अगर बस्तर पर कोई कविता लिखी जायेगी तो वहाँ की यु)रत जनता के दर्द भरे घावों का वर्णन अवश्य होगा, यहाँ आदिवासियों की जीवन्त मन:स्थिति स्फि मृत्यु गीत के उत्सव में तब्दील होकर रह गई है और यह इसलिए कि राज्य सत्ता ने बस्तर के संसाधनों को लूटने खसोटने तथा मार–काट के लिए टाटा, एस्सार जिंदल आदि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से गुप्त समझौता किया है तथा खुली छूट दी है। इसलिए लुटेरों ने यहाँ पर नारा दिया कि जो उनके साथ नहीं हैं, वो विकास विरोधी हैं, देशद्रोही है। इतनी स्पष्ट स्थितियों के बावजूद एक ईमानदार कवि के बहैसियत शाकिर की कविताएँ जनता पर ढाये जा रहे जुल्म का बखान नहीं करती हैं जो निश्चित रूप से उनके खुद की सीमाओं की देन है। एक गैर साहित्यिक प्रश्न यहाँ पर यह है कि बस्तर जैसे यु)क्षेत्र में शाकिर नामक कवि की क्या सामाजिक राजनीतिक पक्षधरता है? कवि मुक्तिबोध के शब्दों में कहूँ तो ''पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?'' बस्तर गोलिकाण्ड कविता देखें:– आज के चालीस बयालीस साल पहले/बोई गई फ़सल/अब लहलहाने लगी है। यह बयालीस साल पहले का ऐतिहासिक समय था, जब विद्रोही आदिवासी चेतना के प्रतीक प्रविरचन्द भंजदेव की नेहरू सरकार ने हत्या कर दी थी। सत्तर के दशक के उत्तरार्ध में नक्सलवादी आन्दोलन यहाँ पहुँचा जिसने भारत में सबसे पिछड़े इलाके की जनता को शोषण, पीड़ा और दमन के खिलाफ़ सचेत राजनीतिक विचारधारा में गोलबन्द किया। यहाँ बारूद की फ़सल लहलहाने का मतलब जनता की प्रतिरोधी चेतना का वर्णन है? कदापि नहीं। बहस कविता देखें–आज बस्तर के हालात पर/कोई कुछ नहीं बोलता/न बस में, ट्रेन में/न होटल में और न पान की दुकान में/सब चुप रहते हैं डर के मारे/वैसे भी यु)भूमि में बहस नहीं चलती/गोली चलती है। यह सच है कि बस्तर एक मुकम्मल यु)भूमि में तब्दील हो गया है, लेकिन उसकी स्थितियों पर कोई कुछ नहीं बोलता, यह 100 फ़ीसदी झूठ है। सलवा जुडूम जैसे दमनकारी फ़ासीवादी हमलों के खिलाफ़ हजारों लोगों ने बस्तर, दंतेवाड़ा के जिला मुख्यालयों, तहसील मुख्यालयों में प्रदर्शन किया है। देश के चर्चित मानवाधिकार कार्यकर्ता डॉक्टर विनायक सेन को छत्तीसगढ़ पुलिस ने जिन कई फ़र्जी मामलों में फ़ँसाकर गिर"तार किया है उसके मूल में डॉक्टर विनायक द्वारा बस्तर में सुरक्षा बलों के भयंकर उत्पातों को उजागर करना ही है। डर है लेकिन इस डरके मारे सब चुप नहीं हैं। हाँ सुविधापरस्ती के हित से बँधे लोग जरूर चुप हैं और जो कुछ भी नहीं बोलते और बोलते भी हैं तो कुछ भी अटर–पटर बोलते रहते हैं और ऐसे लोग महानगरी में भी हैं और बस्तर जैसी जगहों पर भी।

स्कूल बन्द है, आरक्षण, अन्तिम यात्रा, टिफ़िन बम आदि कविताएँ इसी गलतफ़हमी का शिकार हैं, जहाँ मासूमियत की आड़ लेकर जिस भाषा में राज्यसत्ता से लड़ रही ताकतों का जिक्र है, वह एक कवि के अपने समय और समाज से कट जाने का ठोस प्रमाण है। फ़ासीवादी दमन में सैकड़ों महिलाओं से बलात्कार, हजारों विस्थापित जन, सैकड़ों लोगों के फ़ूँक दिये गये घर, रिजर्व पुलिस बलों, नागा बटालियनों सहित राज्य के सशस्त्र पुलिस के भयंकर अत्याचार, सलवा जुडूम के गुण्डों द्वारा बकरी, मुर्गा आदि तक का चट कर

जाने का जिक्र पूरी कविता में कहीं नहीं मौजूद है।

युवा सार्त्र ने एक बार कहा था कि ''हम युवा लोगों के बारे में किसी ने एक भी सच नहीं बोला है'' इसी बात के अर्थ को ग्रहण करते हुए मेरा कहना है कि ''बस्तर के सच को जिस सन्दर्भ में किसी कवि को उठाना जरूरी था शाकिर उसको चालाकी से छुपाने में कामयाब रहे हैं।'' बस्तर के बारे में जहाँ कहीं भी कोई बात होगी घोर पिछड़ापन, उपेक्षा तथा शासकवर्गीय लूट खसोट के खिलाफ विद्रोही जनता के अनगिनत, अपराजेय प्रतिरोध संघर्ष केन्द्र में होंगे। चाहे वह अंग्रेजों की घोषित साम्राज्यवादी नीतियों के खिलाफ आदिवासियों का एकताब) संघर्ष हो या फिर बस्तर के लिए भारत सरकार की अघोषित साम्राज्यवादी शोषक नीतियों के खिलाफ क्रान्तिकारी वामपंथी राजनीति से लैस जनता के सशस्त्र आन्दोलन हों। इन सबके मूल में शोषण के विरु) मनुष्य की नैसर्गिक विद्रोह की चेतना ने बस्तर को विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया है।

बस्तर की जीवनशैली इन स्थितियों से रची पगी है। क्रान्तिकारी राजनीति के नेतृत्व में चलने वाली लड़ाई की व्यापक फ़लता शासक वर्ग के लिए खतरा बन गयी है। क्योंकि जन-सत्ता की भ्रूण रूप में स्थापना से सारे देश में लूट खसोट की जड़ों के खिलाफ संगठित विद्रोह होने लगेंगे। इसलिए शासक वर्ग की तरु से बस्तर की जनता पर यु) थोप दिया गया है। यह यु) अभियान जितना बर्बर सैन्य रूप में है, उससे कहीं ज्यादा सामाजिक सांस्कृतिक स्तर पर विकास के धोखाधड़ी भरे नारों तथा मीडिया द्वारा आक्रामक कुप्रचार के रूप में है।

शाकिर की कविताएँ बस्तर के सामाजिक सांस्कृतिक, राजनीतिक पहलुओं पर बेहतरीन साहित्यिक दस्तावेज हो सकती थीं अगर वह कुप्रचारों का शिकार न होती और न उनमें बाहरीपन होता लेकिन शाकिर जनता के संघर्षशील जीवन के बारे में सच्चाई से कम से कम बोलते हैं। आक्रोश के जो स्वर स्थानिक वजहों से उनकी कविताओं में होने चाहिए थे, बिल्कुल नहीं है। यहाँ एक अघोषित मर्यादा में बोलने की मध्यवर्गीय चालाकी है।

'मुखबिर' शीर्षक कविता देखें... ''तेंदू पत्ता तोड़ने मत जाना/अब जंगल में/एक बारूदी गंध पीछा करेगी होशियार!/ उधर से नागा मारेंगे, इधर से दगा/हमसे दगा करने वालों/होशियार!'' दमन के लिए उतारी गई विशेष नागा बटालियन के विरोध में जिन दगा को दिखाया गया है वो कौन हैं? कवि को अगर नागा बटालियन से लड़ रही जनता से असहमति है तो वह खुलकर जिम्मेदारी पूर्वक जाहिर क्यों नहीं करता है? कवि के रूप में शाकिर अली की भी धूर्तता यहाँ उजागर हो जाती है।

कविता में टिफिन बम, एस पी ओ, बारूद फ़ुा, गोली, बारूदी सुरंग आदि यु)रत बस्तर को प्रतिबम्बित तो करते हैं लेकिन यु) का स्वरूप कैसा है? यु)रत जनता की आकांक्षाएँ क्या हैं? जबकि वह असली लड़ाई शोषण और दमन के खिलाफ है, को कविता पचा ले जाती है। बल्कि कई बार तो यहाँ जनता के इन संघर्षों को देखने की पुलिसिया निगाह मौजूद है।

उदय प्रकाश ने अपने ब्लॉगर पर शाकिर की कविताओं की जिन पृष्ठभूमि का जरूरी जिक्र किया है, उसके आंशिक सन्दर्भ भी कविता से बिल्कुल नदारद हैं। साथ ही उदय ने बड़े शहरों के कवियों पर इसी बहाने तीखा प्रहार किया है जो एक हद तक सही भी है लेकिन पहल के उसी अंक में विष्णु खरे की कविता 'कानून और व्यवस्था का उप मुख्य सलाहकार सचिव चिन्तित प्रमुख मन्त्री को परामर्श दे रहा है' बस्तर पर छेड़े गये बर्बर अभियान 'सलवा जुडूम' पर एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। वैसे भी दिल्ली में जो लोकतन्त्र है, बस्तर पहुँचकर वह बर्बर शक्ल अख्तियार कर लेता है, इसमें दो राय नहीं इसलिए पहल में दुबारा छपते हुए सत्ता के कोपभाजन से बचने के लिए ऐसा धूर्त संतुलन बनाने की कोशिश शाकिर की मजबूरी भी हो सकती है।

'कितना आसान खात्मा' कविता की इन पंक्तियों पर गौर करें। प्लांट लगा दो/मुआवजा मिलने के बाद/पी पी कर खत्म हो जायेंगे! यह आदिवासी जनजीवन के बारे में भद्दे मखौल से ज्यादा क्या है? आज जहाँ के आदिवासी अपनी जल, जंगल, जमीन बचाने के लिए लड़-मरकर शहीद हो रहे हैं, शासकवर्गीय दुरभिसंधियों का पर्दाफाश कर देश की जनता को राह दिखा रहे हो, भयंकर यातना-उत्पीड़न दमन को सहते हुए भी समूचे समुदाय की जिजीविषा तथा संघर्ष को जिन्दा रखे हुए होंवे, सब पी पी कर कर मर जायेंगे?

दृष्टान्त के लिए पेश की गयी उक्तियों के रूप में कही गई कविताओं में अगर कहीं भी जनता के संघर्षों की थोड़ी भी झलक मिलती है तो सिर्फ उस इलाके की विकसित होती सामान्य चेतना की वजह से वरना शाकिर की अधिकतर कविताएँ भले ही उदय की नजरों में शान्ति और मानवता

का बखान करती हों लेकिन वह एक ऐसी मुर्दा शान्ति है जो वर्गीय शोषण और उत्पीड़न को धुंधला करती है और ऐन वक्त पर उदार दिखने की कोशिश करके प्रतिरोधी जनता की कब्र खोदने का काम करती हैं।

कविता के पहले बस्तर की दशा-दुर्दशा पर कवि की भूमिका पर एक बात और...

बस्तर के नवनियुक्त कवि पुलिस महानिदेशक विश्वरंजन ने अपनी भाषा में ''बस्तर और नक्सलवाद समस्या'' लम्बा साक्षात्कार देते हुए कहा कि ''बस्तर के घावों पर कोई रचनात्मक साहित्य क्यों नहीं?'' जाहिर सी बात है कि एक कवि, पुलिस के रचनात्मक साहित्य की परिभाषा जानता है, कवि की परिभाषा अलग होगी लेकिन शाकिर की कविता पढ़कर पुलिस कवि लोग इत्मिनान से साँस लेंगे कि रचना के स्तर पर पुलिसिया नजरों से बात कही जा रही है और वेदना के स्वरों में ल"ाजी करके कुछ लेखक कवि गण बगैर किसी आलोचनात्मक दृष्टिकोण के उसे महान रचना साबित करने की होड़ में भी लगे हुए हैं। यह हमारे समय में, जिनसे सबसे ज्यादा ईमानदारी और बेबाकी की उम्मीद रखनी चाहिए, उनसे हो सकने वाला सबसे ज्यादा आभासी और आत्मघाती विमर्श है।

यह कविताएँ उस आदमी के लिए हुलस का विषय हो सकती हैं जो बस्तर को पहली बार इन कविताओं में ही देख पा रहा हो वरना बस्तर के वर्तमान हालात पर विभिन्न मानवाधिकार संगठनों, स्वतन्त्र पत्रकारों के तहत बु(जीवियों ने अत्यन्त जरूरी दस्तावेज प्रकाशित किये हैं जिनसे परिचित होने के बाद इन कविताओं का सतही तथा बाहरीपन स्वयं प्रमाणित हो जाता है।

–अनिल वर्मा
वर्धा द्धमहाराष्ट्रऋ
द्धपहल-87 से साभारऋ

पत्रांश

मुझे लगता है कि जिन राजनीतिक गतिविधियों को आज नक्सलवाद कह रहे हैं, वे उस आन्दोलन से भिन्न हैं जिसका लोकप्रिय इतिहास मैंने अपनी पुस्तक 'क्रान्ति का आत्मसंघर्ष : नक्सलवादी आन्दोलन के बदलते चेहरे का अध्ययन' में उकेरा था। एक चलते हुए आन्दोलन का वर्णन और विश्लेषण होने के नाते, वह इतिहास अधूरा रह गया था। नक्सलवादी आन्दोलन पर कोई अन्तिम शब्द कहने की स्थिति आज भी नहीं है। लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि साठ, सत्तर और अस्सी के दशक के नक्सलवादी खुद को माओवादी नहीं कहते थे। वे चीनी परिस्थितियों में मार्क्सवाद के व्यावहारिक रूप से माओ के विचार से प्रेरणा ग्रहण करते थे, पर उनके लिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी होना ही काफी था। वे माओ को किसी नये वाद का जनक नहीं मानते थे। उनकी पूरी कोशिश रहती थी किस तरह हथियारबंद संघर्ष चलाते हुए बन्दूक के ऊपर क्रान्तिकारी जन-राजनीति का नियंत्रण स्थापित किया जाये। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि सशस्त्र संग्राम और रेडिकल जनवादी आन्दोलन के बीच एक ऐसा गठजोड़ निकालना होगा जिसे केन्द्र बनाकर भूमिहीन और गरीब किसानों के नेतृत्व में मजदूर-किसान-मध्यवर्ग और राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के एक क्लासिकल क्रान्तिकारी मोर्चे का रास्ता साफ हो सके।

हम जानते हैं कि तमाम कुर्बानियों के बावजूद नक्सलवादी आन्दोलन इस काम को अंजाम नहीं दे सका। इस बीच में मण्डल, कमण्डल और भूमण्डल की राजनीति राष्ट्रीय परिदृश्य पर छा गयी। लोकतान्त्रिक ही नहीं, रेडिकल राजनीति करने के तौर-तरीके बदल गये। विपक्षी राजनीति के निर्देशांकों में आमूलचूल परिवर्तन हो गया। राजनीतिक कार्यक्रमों के आधार पर पुराने तरीकों से जन-गोलबन्दी मुमकिन नहीं रह गयी। यही कारण है कि माओवादियों के रूप में जो नये नक्सलवादी क्षितिज पर उभरे हैं, उनके साथ न तो शहरी मध्यवर्ग है, न ही उनकी मजदूर वर्ग में कोई पैठ है और न ही मैदानी भारत के असंख्य किसान उनके पक्ष में खड़े हैं। ये लोग केवल आदिवासियों में ही सीमित हैं। आजाद भारत के सरकारी तन्त्र द्वारा आदिवासी समाज की उपेक्षा और शोषण के कारण इन लोगों को उनके बीच अपने कदम जमाने का मौका मिल गया है। कहना न होगा कि नक्सलबाड़ी शुरू से ही आदिवासियों के बीच सक्रिय रहे हैं। नक्सलवादी, तेलंगाना और श्री काकुलम के शानदार संघर्ष इसकी मिसाल हैं। लेकिन सि‍र्फ आदिवासियों के बीच ही काम करके संतुष्ट हो जाने या उसी को क्रान्तिकारी प्रयासों की इतिश्री मान लेने की प्रवृत्ति उन लोगों में कभी नहीं थी। माओवादियों या नये नक्सलवादियों की प्रमुख समस्या यह है कि उन्होंने

लोकतान्त्रिक संघर्ष के सभी रूपों को त्याग दिया है। उनकी राजनीति पर चलायमान हथियारबंद दस्तों की संस्कृति हावी हो गयी है। न ही इन लोगों का आचरण एक व्यवस्थित कम्युनिस्ट पार्टी जैसा है। इनकी पत्र-पत्रिकाओं में गम्भीर राजनीतिक-वैचारिक बहस भी देखने को नहीं मिलती। यह मानना मुश्किल है कि केवल बन्दूकबाजी से या राज्य की शक्तियों पर गुरिल्ला हमले करते रहने से क्रान्ति हो सकती है। अगर माओवादी यह समझते हैं कि वे भारतीय राज्य को गौजी मोर्चे पर पराजित कर सकते हैं, तो इसे उनकी एक बचकाना खामखयाली ही कहा जा सकता है। सरकार और मीडिया में लोग इन्हें नक्सलवादी कहते हैं, पर इन लोगों को हमें एक नया नाम देना होगा। दरअसल इन्हें माओवादी कहना भी ठीक नहीं होगा। माओत्से तुंग ने इस तरह से इस राजनीति की पैरोकारी कभी नहीं की थी। माओ आज होते तो चीनी कम्युनिस्ट पार्टी निश्चित रूप से उनकी तरु से इस राजनीति का जोरदार खण्डन करती। यह कथित माओवादी राजनीति अधिकांशत: बिखरी हुई, किसी भी तरह की वैचारिक सुसंगति से वंचित और गैर आदिवासी भारत से पूरी तरह से कटी हुई है। इन्हीं सब कारणों से उनके भीतर जन-विरोधी रुझान आ जाते हैं जिनका परिणाम नागरिकों की हत्या के रूप में सामने आता है, और वे समय रहते इन कमियों को दुरुस्त भी नहीं कर पाते।

मेरे विचार से इस राजनीति का कोई भविष्य नहीं है। भारतीय राज्य बहुत से हथियारबंद विद्रोहों को पचा गया है। इसका हश्र भी यही होने वाला है। लेकिन, इसका मतलब यह नहीं है कि हम इसका अध्ययन करना या इसे गम्भीरता से लेना बन्द कर दें। आज आदिवासी समाज की समस्याओं के सन्दर्भ में इस आन्दोलन का विशेष अध्ययन करने की जरूरत है। हमारे लोकतान्त्रिक प्रयोग का यह एक ऐसा पहलू है जिस पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। नक्सलवाद के बहाने हम आदिवासी कल्याण के लिए विशेष नीतियाँ सूत्रब) करने और बाकी समाज से उनके सम्बन्ध सुधारने की परियोजना की तरु जा सकते हैं।

अभय कुमार दुबे
सम्पादक, भारतीय भाषा कार्यक्रम
विकासशील समाज अध्ययन पीठ द्धसी.एस.डी.एसऋ
द्धपहल-87 से साभारऋ

q

पूँजीवादी समाज के प्रति

इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बु)
इतना ज्ञान, संस्कृति और अंत:शु)
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
यह सौंदर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर-भक्ति,
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छंद–
जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बंधा
इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुंदर जाल–
केवल एक जलता सत्य देने टाल।
छोड़ो हाय, केवल घृणा औ' दुर्गंधा
तेरी रेशमी वह शब्द-संस्कृति अंधा
देती क्रोधा मुझको, खूब जलता क्रोधा
तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोधा
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
तेरे हास में भी रोग-कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रु), तुझ पर व्यग्र।
मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धाो चलें अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा धवंस केवल एक तेरा अर्थ।

अराजक कविता का पुनर्पाठ

❑ राजेश जोशी

अकविता या उसके समानान्तर चलनेवाले हंगरी जनरेशन, भूखी पीढ़ी आदि के आन्दोलन की सबसे अधिक हलचलें बनारस, बंगाल या बिहार में दिखाई दी थीं। तीव्र असहमतियों, मोहभंग और अराजकता के इन आन्दोलनों को जिन मिथकों ने सबसे अधिक प्रभावित किया, वे या तो शैव भक्ति के मिथक थे या शाक्त परम्परओं में मिथक। वैष्णव भक्ति और परम्परा के मिथकों ने इन आन्दोलनों को लगभग प्रभावित नहीं किया। जिस तरह का बोहेमियन या अवांगार्द व्यवहार साठोत्तरी के रचनाकारों में था उसका कोई तालमेल वैष्णव भक्ति आन्दोलन में नजर नहीं आता। इसके भौगोलिक और सामाजिक कारणों की खोज खबर ली जानी चाहिए। कश्मीर की ललदद्य और दक्षिण की अकका महादेवी शैव परम्परा की ऐसी कवयित्रियाँ हैं जो निर्वस्त्र होकर विद्रोह की आत्यन्तिकता जाती तक जाती हैं। वैष्णव परम्परा की विद्रोही की ऐसी आत्यन्तिकता तक जाती नहीं दिखतीं। अकका महादेवी या ललदद्य जैसे जोखिम भी वे नहीं उठातीं। शायद इसीलिए कविता की भाषा शिल्प और मूल्यों के प्रति तीव्र असहमतियों से भरे और सब कुछ को तोड़-ोड़ डालने को उतावले साठोत्तरी के कवि शैव और शाक्तों की परम्परा के प्रति ज्यादा आकर्षित होते हैं। बनारस और कलकत्ता उस दौर की हलचल के मुख्य केन्द्र बन जाते हैं। गिंसबर्ग, ोर्लिंगगेटी आदि बनारस में डेरा डालते हैं और उनका प्रभाव पूरी पीढ़ी पर दिखाई देने लगता है। हिन्दी कविता के अन्तस को थोड़ा टोहने टटोलने की कोशिश की जाये तो साठोत्तरी कविता के छोटे से हिस्से को छोड़कर उसके अधिकांश कहसे के तार कहीं न कहीं वैष्णव भक्ति की परम्परा के आसपास का व्यवहार दिखाई देगा। उसमें जब प्रतिरोध के स्वर मुखर होते हैं या वह विद्रोही भंगिमा के निकट जाती है तब भी वह ज्यादा निगुर्ण धारा के निकट तक ही जाती है। छिन्नमस्ता या शैव मिथको से बनी परम्परा जैसी आक्रामकता और विद्रोह उसमें लक्षित नहीं होते है। सम्भवत: साठोत्तरी कविता के पुनर्पाठ की ही नहीं, भक्ति की विद्रोही और अराजक परम्परओं के पुनर्पाठ की भी जरूरत है।

द्धकवि की दूसरी नोटबुक-रोजेश जोशी, पहल-84 से साभारऋ

प्

महिलाओं के प्रति हिंसा

हाल में महिलाओं के अंतरराष्ट्रीय मोर्चे की प्रिवार्षिक काँग्रेस मे बताया गया कि पूरी दुनिया में महिलाओं के प्रति जांबिया के बाद सबसे अधिाक हिंसा भारत में की जाती है। इन हिंसा की घटनाओं के लिए ज्यादातर मामलों में पीड़ित महिला का करीबी रिश्तेदार ही गुनाहगार होता है। भारत में औरतों के प्रति हिंसा की दर 19 प्रतिशत है। इन घटनाओं के प्रति पुलिस और प्रशासन का रवैया दिनोंदिन खराब होता जा रहा है। न केवल हिंसा बल्कि शोषण, उत्पीड़न और कानून के उल्लंघन की घटनाएँ भी बढ़ी हैं। इसी मंच से यह भी चिन्ता जतायी गयी है कि घरेलू हिंसा, वेश्यावृत्ति और औरतों की खरीद-रोख्त पर रोक लगाने की बड़ी-बड़ी बातों और संकल्पों के बावजूद शासन-प्रशासन ने कोई सार्थक काम नहीं किया है। पश्चिमी देश भी औरतों के उत्पीड़न के मामले में किसी से पीछे नहीं हैं। आस्ट्रेलिया, कनाड़ा, इजराइल, साऊथ अफीका और अमरीका में महिलाओं की हत्या के 40 से 70 ीसदी मामलों में जीवन साथी ही अपराधी होता है।

अराजक परम्पराओं का पुनर्पाठ–एक प्रतिक्रिया

❑ **अजेय**

इंटरनेट पर (www.kritya.in) ललदेई तथा अक्का महादेवी के अतिरिक्त एक और विद्रोही कवि 'मिला रेपा' पर भी सामग्री आयी थी। किन्हीं कारणों से जोशी जी का ध्यान उस पर नहीं गया। कारण दो हो सकते हैं–एक तो 'मिला रेपा' का पुरुष होना, दूसरे उसका बौ) होना। क्योंकि हमारे यहाँ तिब्बत के साथ-साथ भारतीय हिमालय क्षेत्र तथा इसीलिए समपूर्ण बौ) परम्परा को भी 'विदेशी' जैसा मान लिया गया है। बहरहाल, जोशी जी के नोट्स के सन्दर्भ में कुछ जरूरी बातें जोड़ लेना चाहता हूँ।

[भीतरी हिमालय तथा ट्रांसहिमालयी पठारों में वज्रयानी बौ) परम्परा में भी ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में अपने विद्रोही तेवर मुखर किये हैं। भूटान के 'डुग्पा कुनलेग' जो कि पागल भिक्षु के नाम से जाने जाते हैं, इस परम्परा के 'कुख्यात' संत हुए हैं। इनकी दो अलग-अलग आत्मकथाएँ उपलब्ध हैं–एक में उनके सद्कर्मों का विवरण है तो दूसरे में अकुशल कर्मों का। भोटी भाषा के विद्वान एवं बौ) दर्शन के अध्येता ठिन्लेनमज्ञाल ने मुझे इस दिलचस्प भिक्षु के सन्दर्भ में बताया। बताया जाता है कि उन्होंने अपने समय के किसी भी सामाजिक 'टैबू' को स्वीकार नहीं किया। उनकी रचनाएँ अश्लीलता एवं वीभत्सता की सभी सीमाएँ लाँघ गयी हैं। यही नहीं ये सब उन्होंने व्यावहारिक जीवन में भी अपनाया।

[12 वीं सदी के तिब्बती संत कवि 'मिला रेपा' इन 'अराजक' कवियों में प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। इस घुमक्कड़ बौ) साधक ने हिमालय के दोनों ओर तीर्थाटन करते हुए एक लाख गीत रचे हैं। प्राय: निर्वस्त्र रहने वाले इस योगी ने सांसारिकता एवं भौतिकता का निषेधा तो किया ही है, साथ में तात्कालीन धानिकों, सामन्तों, धार्मगुरुओं, धार्मग्रन्थों, मठ-मन्दिर, कर्मकाण्ड यहाँ तक कि विद्वानों का भी उपहास किया है।

यूरोपीय यात्रियों ने बीसवीं सदी के आरम्भ में ही हिमालय का कोना-कोना छानकर इन गीतों को खोज निकाला है जबकि इस पूरे इलाके में घुमन्तू गवैये एवं भिखारी इन जीवन्त गीतों को गाया करते थे। अंग्रेजी भाषा में ही इन गीतों के चार वृहद संकलन उपलब्ध हैं तथा सैकड़ों पुस्तिकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। भोटी साहित्य भी 'मिला' के गीतों, जीवनियों, कथाओं तथा रचनाधर्म पर टिप्पणियों से भरा पड़ा है।

लेकिन हम हिन्दी वालों ने युगों तक पड़ोस में रहते हुए परम्पराओं की कोई सुध न ली। इस आत्ममुग्धता पर अब क्या कहें! कुछ खोज-खबर तो इस बेसुधी की मानसिकता के जातीय मनोवैज्ञानिक कारणों की भी ली जानी चाहिए। जोशी जी जैसा बड़ा कवि जब हमारी इस कूपमंडूकता को रेखांकित कर रहा है तो अब हमें चेत जाना चाहिए।

राजेश जोशी इन नोट्स में कविता के उन 'निषिद्ध' क्षेत्रों में झाँक लेने की बात करते हैं, जो अति महत्तवपूर्ण है। ऐसे ही 'गुण्डा कवि और उसकी कविताई' भी हैं। मैं इन दोनों टिप्पणियों को अलहदा करके नहीं देखता। साठोत्तरी कविता ने मुझे बहुत प्रभावित नहीं किया, लेकिन वह एक शुरुआत तो थी ही। सम्भव है, परम्पराओं को ठीक से आत्मसात् न कर पाने के कारण यह आन्दोलन दम तोड़ गया। अकविता अपने शिल्प, ग्रॉरमेट और मुहावरे को साध न पायी। मैं जोशी जी की बातों की तस्दीक करता हूँ कि वैष्णव भक्ति में विद्रोह चेतना उस प्रखर रूप में देखने को नहीं मिलती जितनी शैव तथा शाक्त परम्पराओं में। मैं इसे थोड़ा आगे बढ़कर 'तांत्रिक परम्परा' कहना चाहूँगा जिसमें बौ) तथा दर्जनों अन्य उपसम्प्रदाय भी शामिल हैं।

वस्तुत: पूरा हिन्दी क्षेत्र द्धसाहित्य?ऋ वैष्णव भक्ति के रस में पोषित पल्लवित हुआ है। इस परम्परा में मनुष्य की नैसर्गिक विद्रोह-चेतना को मर्यादा और नैतिकता के उपकरणों से कुन्द कर दिया गया है। बहुत भीतर, प्रकट होने के साथ-साथ उन चिऋ्नों को दमित कर दिया गया है। अत: हिन्दी क्षेत्र में अपने खोल से बाहर झाँककर सच को जानने, समझने, देखने तथा सामना करने का माद्दा बहुत कम है। कबीर और मीरा जैसे अपवाद हुए हैं, लेकिन क्या वे भी सामाजिक संस्कारों और रूढ़ियों से निजात पा सके? कबीर अपने राम को निर्गुण-निर्गुण कहकर पुकारते रहे लेकिन आजीवन नारी की संगति से आतंकित रहे। मीरा विरह में अपने गिरधर को पुकारती रही लेकिन अक्का और ललधर की तरह वह विद्रोह प्रकट नहीं कर पायी...

इसी प्रकार सम्पूर्ण हिन्दी काव्यधारा द्धभक्तिऋ ने हमें एक ऐसी भावभूमि प्रदान की है जो अकर्मण्यता, निष्क्रियता एवं स्वीकार की मनोवृत्ति उपजाती है। हम सदियों से पड़ोस में झाँकने से कतराते रहे–गैर हिन्दी जगत को 'विदेश' जैसा मानते हुए। तान्त्रिक परम्पराओं की विद्रोह-चेतना के भौगोलिक एवं सामाजिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक, दार्शनिक घटकों की पड़ताल तत्कालीन राजनीतिक पृष्ठभूमि के दृष्टिगत होनी चाहिए। बाकी लोग कर रहे हैं, केवल हिन्दी में चुप्पी सी है। ऐसा विमर्श है भी तो बहुत कम। बड़ा ही ज़रूरी प्रश्न यह है कि शीतल मरुस्थल की अँधेरी गुफाओं में शून्य से चालीस डिग्री नीचे निर्वस्त्र रहने के क्या भौगोलिक कारण हो सकते हैं? हमारे हिन्दी के तथाकथित प्रगतिशील लोग तान्त्रिक परम्पराओं से कुछ ऐसे आतंकित हैं कि उधर झाँकना भी 'पाप' समझते हैं। वे नाथों, सि)ों, शैवों, बौ)ों और शाक्तों को असभ्य, बर्बर, अन्धविश्वासी, अतिवादी और वाममार्गी, कहकर निन्दा तो करते हैं लेकिन उसके भीतर जाकर उन्हें समझने से घबराते हैं। जबकि उनका साहित्य मुझे अत्यन्त उ+र्जावान एवं प्रगतिशील नज़र आता है। हमें अपनी कविता को आगे ले जाने के लिए इन परम्पराओं का गहन अध्ययन करना चाहिए। **लेकिन राजेश जोशी के शब्द 'पुनर्पाठ' पर मुझे आपत्ति है। शायद अभी पहला पाठ ही सम्भव नहीं हुआ है।** द्धपहल-86 से साभारऋ q

पॉली बेकर की गवाही

❑ **बेंजमिन फ्रेंकलिन**

पॉली बेकर ने अमरीकी अदालत के कठघरे में पाँचवी बार अपने पाँचवें नाजायज़ बच्चे को जन्म देने के अपराध के लिए अपना बयान यूँ दिया–

''मैं इस सम्मानित बेंच के सामने कुछ शब्द कहने की धृष्टता कर रही हूँ । मैं एक गरीब और किस्मत की मारी नारी हूँ जिसके पास वकील की ीस के लिए भी पैसे नहीं हैं। मैं यहाँ पर अपनी गरीबी और तंगहाली का बयान नहीं करूँगी और न ही कोई लम्बी तकरीर करके कोर्ट का समय बरबाद करूँगी। मैं जानती हूँ कि मेरी तकरीर से न कानून का ैसला बदलेगा और न ही मेरी तकदीर का। मेरी नम्र प्रार्थना यही है कि न्यायधीश ही सरकार से अनुरोध करें कि मुझ पर लगने वाले जुर्माने की रकम वह अदा कर दें। आदरणीय, मुझे पाँचवीं बार इसी जुर्म के लिए अदालत में घसीटा गया है। पहले दो बार मैंने जुर्माने की भारी रकम अपनी जमा पूँजी में से देकर छुटकारा पा लिया। पिछले दो जुर्मानों का भुगतान न करने के कारण मुझे सार्वजनिक सजा की ग्लानि झेलनी पड़ी थी। ये न्यायिक प्रावधानों के अन्तर्गत तर्कसंगत हो सकता है, परन्तु कभी-कभी प्रावधान भी न्यायोचित नहीं होते और इन्हें रद्द करना पड़ता है। इसीलिए कानून बदले भी जाते हैं और जब तक ऐसे कानून नहीं बदले जाते, तब तक उन लोगों को इस अन्याय का परिणाम भुगतना पड़ता है। मैं समझती हूँ कि यह कानून जिसके अन्तर्गत मुझे सज़ा मिल रही है, वह तर्कसंगत न होने के साथ-साथ मुझ जैसी स्त्रियों के लिए सख्त भी है जो समाज के उस तबके में पैदा हुई जहाँ गरीबी का राज है और किसी भी अन्याय का प्रतिरोध नहीं किया जाता और न ही किसी पुरुष, महिला या बच्चे पर हो रहे अन्याय का।

''मैंने पाँच सुन्दर बच्चों को जन्म दिया। मैं नहीं जानती, ऐसा कौन-सा कानून है जो इन्हें रोक सके। मैंने अपने जीवन की कठिन परिस्थितियों से संघर्ष करके इनका लालन-पालन किया। इस जिम्मेदारी को और अच्छी तरह निभा पाती यदि मुझ पर मोटी रकम का जुर्माना न लगाया जाता–यह जुर्माना जो मेरे जीवन की पूरी बचत लील गया। क्या यह गुनाह है कि हम इस देश में बच्चों को जन्म दें जहाँ आबादी की कमी है और अधिक लोगों की जरूरत है? मैं समझती हूँ कि इस कृत्य की सराहना होनी चाहिए न कि सजा! मैंने किसी महिला का पति नहीं छीना, न किसी नवयुवक को कामुक प्रेरणा दी और न ही किसी ने मेरे खिलाफ़ कोई व्यभिचार का मामला दर्ज़ कराया। मेरा जुर्म है तो केवल इतना कि मैंने बिना विवाह किये बच्चे को जन्म दिया। परन्तु इसमें मेरी क्या गलती है? मैं हमेशा चाहती थी और अब भी चाहती हूँ कि मेरा भी विवाह हो, मेरा भी घर-परिवार हो क्योंकि मुझमें एक सुघड़ गृहणी के सभी गुण हैं। मैंने कभी भी किसी से विवाह के लिए इन्कार नहीं किया, बल्कि जब भी किसी ने मुझसे विवाह की पेशकश की तो उसे सहर्ष स्वीकार किया और उस व्यक्ति की ईमानदारी पर भरोसा करके अपने आपको समर्पित कर दिया। उसका परिणाम यह है कि उस समर्पण की सज़ा मुझे भुगतनी पड़ रही है।

''वह व्यक्ति आज न्यायविद बनकर इस देश के न्यायालय में बैठा है। मैं समझती थी कि न्याय की खातिर वह इस न्यायालय में आयेगा और मेरा बचाव करेगा(परन्तु आज मुझे न्यायविद के शोषण और धोखाधड़ी के खिलाफ़ आवाज़ उठानी पड़ी। मैं यहाँ उसके किये की सजा भुगतने खड़ी हूँ और वह सरकारी अधिकार के मद में चूर न्यायपीठ पर बैठा है। यह तो ऐसा ही हुआ कि चोर के हाथ में तिजोरी की चाबी हो! यदि शादी धार्मिक संस्कार है और मैंने धार्मिक उल्लंघन किया है तो इसकी सजा मुझे धर्म देगा। मुझे स्वर्ग नहीं, नरक भोगना होगा तो वह मैं भोग लूँगी। क्या इतनी सजा काफी नहीं है जो मुझे इस न्यायालय की सजा भी भुगतनी पड़ेगी? लेकिन मैं यह कैसे मान लूँ कि ईश्वर मुझसे नाराज है कि मैंने इन बच्चों को जन्म दिया। यह तो परमात्मा की ही देन है, उन्हीं के हस्तशिल्प का करिश्मा हैं ये सुन्दर बच्चे, जिनके शरीर में अनश्वर आत्मा फूँकी है उसने।

''क्षमा करें महानुभाव, मैं भावावेश में बह गयी, मैं कोई आध्यात्मिक ज्ञाता नहीं हूँ और न ही कोई कानूनविद। आप लोग तो कानून बनाने वाले, कानून जानने वाले हैं, आप तो प्रकृति के इस न्याय को अन्याय का दर्जा न दें। जरा सोचिए, आज कितने नवयुवक हैं जो परिवार का बोझ नहीं सम्भाल सकते, इसके कारण विवाह नहीं करते(ऐसी कितनी महिलाएँ हैं जो अपनी आर्थिक परिस्थितियों के कारण गर्भपात कराती होंगी द्धजो किसी हत्या से कम नहींऋ। क्या इनका जुर्म मेरे जुर्म से बड़ा नहीं, जो आने वाली पीढ़ी को बढ़ने से रोक रहे हैं...वह भी इस देश में जहाँ अधिक आबादी की आवश्यकता है। ऐसी महिलाएँ क्या करें जिन्हें पुरुष भोगना तो चाहते हैं परन्तु परिवार के बन्धन में नहीं बाँधना चाहते? क्या यह कानून के विरु) नहीं है और क्या ऐसे पुरुषों पर अधिाक जुर्माना नहीं लगना चाहिए? यदि सभी पुरुष ब्याह करें तो ईश्वर का यह निर्देश 'बढ़ों ओर बढ़ाओं' पूरा होगा। स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के पूरक होकर वृ) करेंगे और समाज बढ़ेगा।

''मैंने अपना प्राकृतिक धार्म निभाया है और इसके लिए मुझे कानूनी व सामाजिक दण्ड भी मिला है। इसका पुरस्कार तो मुझे मिलना ही चाहिए और इससे अच्छा पुरस्कार क्या होगा कि मुझ पर जुर्माना लगाने की बजाय मेरी स्मृति में मेरी एक प्रतिमा स्थापित की जाये!''

पता चला कि दूसरे ही दिन एक न्यायविद ने पॉली से शादी कर ली और अब वह पन्द्रह बच्चों की माँ है। यह पता नहीं चल पाया कि इन बच्चों में वो पाँच बच्चे भी शमिल हैं या नहीं...। q

श्रमिकों के प्रति न्यायपालिका का बदलता रवैया

❑ ज्ञानेन्द्र

श्रमिक मामलों के वकीलों ने हाल ही में मुख्य न्यायाधीश के. जी. बाल कृष्णन को एक ज्ञापन दिया है जिसमें कहा गया है कि सुप्रीम कोर्ट के फैसलों ने ''मालिकों का हौसला और निजी उद्यमों के मुनाफे और धन सम्पदा को बढ़ाया है जबकि मजदूर वर्ग को विपन्न बनाकर छोड़ दिया है।''

ज्ञापन में यह भी कहा गया है कि ''मालिकों की गैरवाजिब चिन्ता'' करते हुए अब सुप्रीम कोर्ट कहता है कि मजदूरों के अधिकारों पर ज्यादा जोर देने और मालिकों के अधिकारों में कटौती के चलते ही औद्योगिक दावों की संख्या बढ़ी है। ज्ञापन कहता है कि सुप्रीम कोर्ट की यह टिप्पणी मजदूरों की निगाह में संविधान को महत्त्वहीन बनायेगी। ये कथन संविधान के अनुरूप नहीं बल्कि उदारीकण, वैश्वीकरण, निजीकरण की आर्थिक नीतियों के अनुरूप हैं। ''जिन्हें संक्षेप में एल. पी. जी. के नाम से जाना जाता है।''

उनका लक्ष्य अब संविधाान की प्रस्तावना और नीति निर्देशक तत्व नहीं बल्कि एल.पी.जी. की आर्थिक नीतियाँ उनके लिए कहीं ज्यादा महत्त्व रखती हैं–जो हाल ही में आये सुप्रीम कोर्ट के फैसलों से स्पष्ट है।

सुप्रीम कोर्ट के पहले के फैसलों में 'स्पष्ट शब्दों में' कहा गया था कि ठेका मजदूरी एक शोषणकारी प्रथा है और इसका अन्त होना चाहिए लेकिन अब कोर्ट ने 1976 के ठेका मजदूर अधिनियम को निरस्त कर दिया। उसने कहा कि ठेका मजदूरों को यह अधिकार नहीं है कि उनकी नियुक्ति स्वत: स्वाभाविक तौर पर हो ही जायेगी बल्कि उन्हें नये सिरे से भर्ती के लिए अन्य मजदूरों की तरह लाइन में लगना होगा। केवल कुछ हद तक उन्हें वरीयता दी जा सकती है। लेकिन ठेका प्रथा के उन्मूलन के बाद उन्हें रोजगार की कोई गारण्टी नहीं होगी। ठेका मजदूरी के उन्मूलन के पहले ही वे उस छोटे से रोजगार से भी हाथ धो बैठेंगे जो उनके पास है।

उमा देवी के मामले में न्यायालय और ''पीछे हटा'' है। सुप्रीम कोर्ट कहता है कि यदि किसी व्यक्ति की भर्ती सामान्य भर्ती प्रक्रिया के नियमों के तहत नहीं की गयी है तो उसे नियमित होने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा, भले ही वह कितने ही सालों तक, कितने ही कम वेतन पर काम क्यों न करता रहा हो। इस तरह सुप्रीम कोर्ट उस मालिक को पुरस्कृत करता है जो बिना सामान्य भर्ती प्रक्रिया का पालन किये सालों-साल से किसी मजदूर का शोषण कर रहा है।''

औद्योगिक विकास अधिनियम का सेक्शन 11-ए, जो ट्रिब्यूनल को मजदूरों को राहत देने के लिए अधिकृत करता है, उसका ''न्यायिक तौर पर उन्मूलन'' हो चुका है। ज्ञापन के अनुसार ''अब सुप्रीम कोर्ट ने फैसला सुनाया है कि यदि बर्खास्तगी न्याय संगत नहीं है तब भी कर्मचारी पिछले वेतन की माँग नहीं कर सकते। अवैध छँटनी के मामले में भी सुप्रीम कोर्ट यह स्पष्ट करता है कि पुन: नौकरी की बहाली कोई सामान्य नियम नहीं है, जैसी कि पहले मान्यता थी। इस तरह नौकरी से निकाले गये एक गरीब मजदूर की कोर्ट से पुनर्बहाली का सवाल बहुत दूर की चीज बन गया है।

''उदारीकरण के इस दौर में मजदूर वर्ग अपने को पूरी तरह निरस्त्र महसूस कर रहा है, जिसमें मजदूर को कम तनख्वाह पर, अधिक घण्टों तक काम करना पड़ता है और उसके रोजगार की कोई सुरक्षा भी नहीं है। ऐसे समय में सुप्रीम कोर्ट को गरीब मजदूरों की मदद के लिए आगे आना चाहिए। लेकिन इसकी बात करना तो दूर, जिन मालिकों से कर्मचारियों की हिाजत की उससे उम्मीद की जाती है, वह उन्हीं के अधिकारों पर जोर दे रहा है।

''बढ़ते उदारीकण, निजीकरण और व्यवस्था के और ज्यादा शोषणकारी होते जाने के चलते आम जनता हड़ताल करने के लिए विवश होती है। टी. के. रंगराजन के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने उनका यह न्यूनतम लोकतान्त्रिक अधिकार भी छीन लिया। उस मामले में लगभग 25 लाख कर्मचारी बिना जाँच के बर्खास्त कर दिये गये थे। उनको मिल रही सुविधाएँ इस आधार पर छीन ली गयी थी कि कर्मचारियों को हड़ताल का अधिकार नहीं है, उस समय भी जब वह न्याय संगत हो।'' तथाकथित ''कल्याणकारी राज्य'' के जमाने में भारत सरकार और न्यायपालिका लम्बे समय तक ''समान काम के लिए समान वेतन'' के सि)ान्त का पालन करती रही। लेकिन सुप्रीम कोर्ट ने अपने हाल में सुनाये गये

फैसलों में इस सि)ान्त का पूरी तरह त्याग कर दिया है।

यह सि)ान्त राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में शामिल है और संविधान के मुताबिक, कानून बनाते समय केन्द्र और राज्य को इन्हें ध्यान में रखना होता है। ''न्यायिक सक्रियता'' के दौर में सुप्रीम कोर्ट ने ''समान काम के लिए समान वेतन'' के सि)ान्त को ''मूलभूत अधिकार'' के स्तर तक उठाने की कोशिश की थी लेकिन अब जमाना बदल चुका है। सुप्रीम कोर्ट और न्यायपालिका के प्रणेता, देशी-विदशी पूँजीपतियों की ताल पर नृत्य कर रहे हैं। अब सुप्रीम कोर्ट कहता है कि ''समान काम के लिए समान वेतन'' तभी लागू होगा जब दोनों मजदूर सभी मामलों में पूरी तरह समान हों, या दूसरे शब्दों में उनकी पूरी पहचान एकदम समान हो। सब जानते है कि कोई भी दो आदमी कभी भी पूरी तरह समान नहीं हो सकते, इसलिए भविष्य में इस सि)ान्त के लागू होने की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हो गयी हैं। 90 के दशक में एक और ऐसी ही समस्या खड़ी करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि दो व्यक्तियों के काम समान है या नहीं, इसका मूल्याँकन करने में एक अन्तर्निहित कठिनाई यह है कि उनके जिम्मेदारी सम्भालने के स्तर, विश्वसनीयता और गोपनीयता अलग-अलग हो सकते हैं। यानि समान पद के आधार पर समान वेतन नहीं दिया जा सकता।

इस साल पूरी आक्रामक मुद्रा अख्तियार करते हुए सुप्रीम कोर्ट कहता है कि यह सि)ान्त भारी ''तबाही का कारण'' रहा है। झारखण्ड सरकार बनाम एस. सी. चन्द्रा मामले में वह कहता है कि किसी मजदूर/कर्मचारी के वेतन का निर्धारण करना पूरी तरह से अधिकारी/मालिकों के अधिकार क्षेत्र में आता है और अदालतों को इस मामले में नहीं पड़ना चाहिए। ''समान काम के लिए समान वेतन'' के सि)ान्त को लेकर पूरे देश में गम्भीरता से प्रयासरत संगठनों और ट्रेड यूनियनों को सुप्रीम कोर्ट सलाह देता है कि पद और वेतन का समीकरण एक गम्भीर मामला है और बेहतर होगा कि इसे क्षेत्र विशेष के विशेषज्ञों पर छोड़ दिया जाये।

इन सभी बातों का निष्कर्ष यही है कि जिस तरह विधायिका और कार्यपालिका आज देशी-विदेशी सरमायादारों के हित में खुलकर काम कर रही हैं, उसी ढर्रे पर न्यायपालिका भी काम कर रही है। वह किस वर्ग के खिलाफ है और किस वर्ग की सेवा करती है यह पूरी तरह स्पष्ट हो गया है। पूँजीपति मालिकों के अन्याय के खिलाफ न्यायपालिका के दरवाजे पर न्याय की गुहार लगाने वाले मजदूरों, मजदूर समस्याओं और उनकी वकालत करने वाले वकीलों तक का दिनों-दिन इससे मोहभंग होता जा रहा है। ❑

...कानून की पवित्राता तभी तक रखी जा सकती है जब तक वह जनता के दिल यानि भावनाओं को प्रकट करता है। जब यह शोषणकारी समूह के हाथ में एक पुर्जा बन जाता है तब अपनी पवित्राता और महत्तव खो बैठता है। न्याय प्रदान करने के लिए मूल बात यह है कि हर तरह के लाभ या हित का खात्मा होना चाहिए। ज्यों ही कानून सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करना बन्द कर देता है त्यों ही जुल्म और अन्याय को बढ़ाने का हथियार बन जाता है। ऐसे कानूनों को जारी रखना सामूहिक हितों पर विशेष हितों की दम्भपूर्ण जबरदस्ती के सिवाय कुछ नहीं है।

–भगत सिंह

छठे वेतन आयोग की सिफारिशें देश को कम्पनी में बदलने की साजिश

❑ गिरिश

शुरुआती उत्साह और उमंग अब लगभग गायब हो चुका है। नेता चिन्तित हैं और रणनीतिकार परेशान। चुनावी चश्में से चीजों को देखने वाले भी घबराये हुए हैं। 40 ीसदी बढ़ोतरी किये जाने की चर्चाओं के बावजूद छठे वेतन आयोग की स्िारिशें लोगों को बेचैन किये हुए हैं। अफसरों के एक छोटे से वर्ग को छोड़कर सभी वर्गों के कर्मचारी और अधिकारी असन्तुष्ट हैं तथा विरोध की तैयारी कर रहे हैं। सबसे मुखर विरोध सबसे अधिक अनुशासित और देशभक्त कहलाने वाले सेना के आला अफसरों की ओर से हो रहा है।

ट्रेड यूनियनों के छिटपुट बयानों और हड़ताल-प्रदर्शन की चेतावनी की खबरों के बाद लगता है कि कर्मचारियों की ओर से फ़िलहाल विरोध अभी ठण्डा है जबकि यहीं से उग्र विरोध की आशंका थी। लेकिन अफसरों का विरोध कफी मुखर है। आई. पी. एस., आई. ए. एस., आई. आई. एस., आई. एफ. एस., आदि सभी श्रेणियों के अफसरों ने अपना विरोध दर्ज कराया है। उच्च शिक्षण-संस्थानों और शोध-संस्थानों के वैज्ञानिक भी असन्तुष्ट हैं। वेतन आयोग की स्िारिशों से नाखुश सेना के अफसरों ने स्िारिशों के आने के दो ह"तों के भीतर ही वी. आर. एस. के लिए आवेदन कर दिया है। सेना में पहले ही 15000 अफसरों की कमी है। सेना के एक वरिष्ठ अफसर ने कहा है कि, ''यह तो अभी ट्रेलर है। हमें यह जानकरी मिली है कि लेि"टनेंट कर्नल और कर्नल स्तर के अफसर भारी संख्या में सेना को अलविदा कहने का मन बना रहे हैं।'' स्थिति से घबराकर रक्षामन्त्री ने सशस्त्र बलों के प्रमुखों को आश्वासन दिया है कि वे ौजियों की उम्मीदों को पूरा करने के लिए वेतन आयोग की रिपोर्ट को संशोधित कराने की कोशिश करेंगे।

समाज के इन 'सम्भ्रान्त' लोगों के भारी विरोध से चिन्तित सरकार ने छठे वेतन आयोग की रिपोर्ट की जाँच-पड़ताल करने के लिए कैबिनेट सचिव की अध्यक्षता में नौकरशाहों की एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति बनाने का ैसला किया है। यह समिति 'स्क्रीनिंग कमेटी' के रूप में काम करेगी।

दरअसल, सरकार की घबराहट और अफसरों का विरोध वेतन आयोग के उद्देश्य में ही छिपा हुआ है। यह वेतन आयोग अब तक के सभी वेतन आयोगों से अलहदा किस्म का है। अभी तक के वेतन आयोग केन्द्रीय कर्मचारियों के कार्य करने के तरीके व वेतन को युक्ति-संगत बनाने तक ही अपने को सीमित रखते थे। अर्थात इनका दायरा इनपुट तक सीमित होता था। लेकिन छठा वेतन आयोग पहली बार आउटपुट की बात कर रहा है। आयोग ने अपनी रिपोर्ट की धारा 2 डी में केन्द्रीय प्रतिष्ठानों को वैश्विक आर्थिक माहौल के हिसाब से ढालने की बात की है जिसमें विश्वसनीयता, जिम्मेदारी और आधुनिकतम् तकनीक के उपयोग पर बल दिया गया है।

1990 में जब विश्व स्तर पर वर्गों का शक्ति-सन्तुलन बदलने के साथ ही देश को देशी-विदेशी पूँजीपतियों को सौंपने की कवायद शुरू हुई, तभी से कर्मचारियों सहित देश के अन्य मेहनकशों के हकों को छीना जाने लगा। इसी क्रम में पाँचवा वेतन आयोग बनाया गया था जिसकी तमाम स्िारिशें मेहनतकश विरोधी थीं। 30 ीसदी कर्मचारियों की छँटनी की स्िारिशें पाँचवे वेतन आयोग ने ही की थी। जिसे पिछले दरवाजे से लागू भी कर दिया गया। कार्यालयों में कम होती कर्मचारियों की संख्या और बढ़ता काम का बोझ इसी का परिणाम है।

हालाँकि, वैश्वीकरण उदारीकरण और निजीकरण के इस दौर में मिले मौकों से राष्ट्रीय-बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने देश को बेइन्तहा लूटा है। कई नये अरबपति व करोड़पति भी पैदा हुए हैं। इस बेलगाम लूट से अरबों रुपया कमाने वाली कम्पनियाँ अपने उच्च अधिकारियों को लूट का एक हिस्सा वेतन और सुविधाओं के रूप में देने लगीं हैं ताकि वे उनकी लूट को अबाध गति से जारी रखने में अपना सब कुछ झोंक दें। इसकी भरपाई वे अपने मजदूरों तथा आम कर्मचारियों को कम से कम वेतन देकर उनसे अधिक से अधिक काम लेकर करती हैं। कम्पनियों ने ऐसा, बाजार कब्जाने की आक्रामक नीति के तहत किया है। छठे वेतन आयोग के द्वारा सरकारी संस्थाओं में भी अब यही मॉडल लागू किया जा रहा है।

समाज में, देश की सार्वजानिक सम्पदा को 'लूटो और खाओ' की नंगई जब अपने चरम पर है तो कुछ अफसर, तकनीशियन, वैज्ञानिक भी कब तक अपने को 'हवस की

इस दौड़' में पीछे रखते! सेना, गुप्तचर सेना, प्रशासन और मन्त्रालयों में बेठे कई नौकरशाह भाग-भाग कर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में भर्ती होने लगे। सरकारी सेवा में लगे अधिकारी, उच्च शिक्षण संस्थानों के फैकल्टी मेम्बर और वैज्ञानिक भी तेजी से वी. आर. एस. लेने लगे। एक समय तो सरकारी एयरलाइन्स में पायलटों का अकाल-सा हो गया था।

सरकार को 'मानव संसाधन की इस आवाजाही' और 'देश के भीतर होने वाले प्रतिभा पलायन' से कोई आपत्ति नहीं है बल्कि वह 'ज्ञान-उद्योग' को मजबूत करने में लगी हुई है। किन्तु शासन-प्रशासन चलाने के लिए कुछ 'मानव-संसाधन' तो चाहिए ही। दरअसल वे ही उस 'इण्डिया' के 'कल-पुर्जे' भी हैं जो देशी-विदेशी सरमायादारों के लिए निर्मित की जा रही है। इसीलिए इनकी तनख्वाहें बढ़ाने का भी फैसला किया गया।

पाँचवें वेतन आयोग से शुरू हुआ यह सिलसिला छठे वेतन आयोग की सिफारिशों के रूप में आगे बढ़ाया जा रहा है। आयोग की सिफारिशों के मुताबिक कैबिनेट सचिव का वेतनमान 90 हजार रुपये प्रतिमाह होगा। वहीं न्यूनतम मूल वेतनमान को 6660 रुपये पर ही रोक दिया गया। इससे न्यूनतम वेतन तो करीब 10,000 रुपये तक ही हो पायेगा जबकि अधिकतम वेतन 1.25 लाख प्रतिमाह के आस-पास होगा।

कई अर्थशास्त्रियों ने इसे देश के खजाने पर भारी बोझ डालने वाला बताया तो वेतन आयोग ने रिर्जव बैंक की ताजा रिपोर्ट का हवाला देते हुए जबाव दिया कि, ''28 में से 19 राज्यों में 2007-08 के दौरान सरप्लस राजस्व है। वैट लागू होने के बाद उनके राजस्व में अभी और बढ़ोतरी होगी। फिर भी अगर कुछ राज्यों में धन की कमी आती है तो वह राज्य टैक्स राजस्व बढ़ाकर, अपने अन्य खर्चों में कटौती कर, सिफारिशों के लागू होने की तिथि बदलकर और एरियर का भुगतान अपनी सुविधानुसार करके इस रिपोर्ट को लागू कर सकता है।''

साफ है कि आयोग की पक्षधरता क्या है? अब जरा आयोग की कुछ दूसरी सिफारिशों पर गौर किया जाये। आयोग का कहना है कि, ''हमारी सिफारिशों को लागू करने से 4,586 करोड़ रुपये की सालाना बचत होगी।'' पैसा बचाने के लिए आयोग ने ग्रुप डी का ग्रुप सी में विलय करने, स्टेनोग्राफर के पद को समाप्त करने और निचले स्तर के कुल 35 ग्रेड़ों को मिलाकर उन्हें केवल 20 ग्रेड़ तक लाने का प्रस्ताव किया है। ग्रुपों के विलय के इस प्रस्ताव से ऐसा लग सकता है कि ग्रुप डी को ग्रुप सी के स्तर तक उ+पर उठाया गया होगा, लेकिन सच्चाई इसके उलट है। यहाँ ग्रुप डी के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया गया है। तथा इसके लिए ठेके और अस्थायी कर्मचारियों की नियुक्ति का रास्ता साफ किया गया है। यह पिछले दरवाजे से कर्मचारियों की छँटनी का प्रयास है। निचले स्तर के कई ग्रेड़ों को एक में समाहित करने का मतलब भी यही है, कर्मचारियों की छँटनी, कामों का बोझ बढ़ना और रुपये की बचत।

आयोग ने सरकारी कर्मचारियों की 'काहिली' को दूर करने और कामों की गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए कर्मचारियों की गजेटेड छुट्टियों को घटाकर 3 दिन करने और वेतन-भत्तों में बढ़ोतरी के लिए कार्य कुशलता को आधार बनाने की सिफारिश की है। यह प्रस्ताव कार्यकुशलता के बजाय चमचागिरी की संस्कृति और आपसी झगड़े की भावना को बढ़ायेगा ताकि निकटतम् अफसरों के हाथों में असीमित अधिकार केन्द्रित कर देगा जिससे अफसरशाही और अधिकारी मजबूत होगे।

साफ है कि उ+पर के मलाईदार पदों पर बैठे अफसरों पर तो आयोग ने खूब करम किया है जबकि 80 फीसदी से ज्यादा ग्रुप सी और ग्रुप डी के कर्मचारियों को उनके मुकाबले कुछ भी नहीं दिया गया है। मुद्रास्फीति में तेजी से हो रही वृ) के आगे उनका वास्तविक वेतन कम हो जायेगा और क्रयशक्ति में गिरावट आने की पूरी सम्भावना है।

इन सिफारिशों के स्वीकार होने से न्यूनतम और अधिकतम वेतन का अनुपात 1:10 से बढ़कर 1:12 हो जायेगा। यह अमीरी-गरीबी की खाई को और बढ़ायेगा। उच्चतम वेतन की तुलना अगर हम एक औसत भारतीय की सालना आय से करें तो यह अनुपात 1:12 से बढ़कर 1:32 हो जायेगा तथा अगर इसकी तुलना 32 करोड़ नीचे के लोगों से करें तो यह अनुपात 1:1800 हो जायेगा। मतलब यह कि एक आम गरीब भारतीय की आय से नौकरशाह 1800 गुना अधिक वेतन पायेंगे।

इसके बाद भी वेतन-आयोग की सिफारिशों का विरोध! हालाँकि वेतन आयोग देश को जल्दी-से-जल्दी एक कम्पनी मे बदल देना चाहता है। मगर देश के 'कर्णधार' इन्तजार करने के मूड में नहीं हैं। वे अतिशीघ्र देश को 'प्राइवेट लिमिटेड' में बदल देना चाहते हैं। ताकि 'प्राईवेट लिमिटेड' कम्पनियों की सारी सुविधाएँ और मोटी तनख्वाहें उनको मिलने लगें और शेष 'कल-पुर्जों' को न्यूनतम-वेतन थमाकर कार्य की सारी जिम्मेदारी उन पर डाल दी जाय। ❑

फूटपरस्ती की राजनीति

❑ हरेन्द्र राणा

भारत की आर्थिक राजधानी मुम्बई में वर्ष 2008 की शुरुआत क्षेत्रवादी राजनीतिक हिंसा और उत्तर भारतीय लोगों के साथ मारपीट से हुई है। लगभग दस दिनों के इस ताण्डव से भयाक्रान्त 25000 के करीब उत्तर भारतीय पुणे शहर छोड़कर जा चुके हैं। 1992-93 की साम्प्रदायिक घटनाएँ 2006 के बम विस्फोट और अब उत्तर भारतीयों के खिलाफ हिंसक वारदातें क्या मुम्बई को दुनिया की नजरों में फरत और आतंक की राजनीति का पर्याय बनाकर नहीं रख देंगी? क्या पूरा देश वास्तव में यही चाहता है? क्या देश के हर शहर को अपने मूल निवासियों को बचाने के लिए बाहर के लोगों के प्रति ऐसी ही नीति लागू कर देनी चाहिए? अगर प्रवासियों के खिलाफ राज ठाकरे का यह अभियान ठीक था तो उसने अपना धर्मयु) क्यों बन्द कर दिया और अगर गलत था तो कहाँ गये संविधान की कसमें खानेवाले?

जिस मुम्बई शहर को कभी मिश्रित संस्कृति के लिए जाना जाता था और देश के कोने-कोने से लोग काम की तलाश में वहाँ जाते थे, उसी शहर के कुछ सिरफिरे अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंकने के लिए प्रवासियों के खिलाफ आग उगल रहे हैं। मराठियों की भाषा और संस्कृति के प्रति गैर कादार होने का आरोप लगाकर उत्तर भारत के लोगों को वहाँ बेरहमी से पीट रहे हैं। देश के अन्दर प्रान्त या भाषा के नाम पर फरत और दंगा भड़काना क्या एक आपराधिक कार्रवाई नहीं है? गरीब मराठियों को भरमाना और भड़काना तथा उत्तर भारतीयों के खिलाफ आतंकी कार्रवाई का जो रूप मुम्बई में देखने को मिला उसकी साजिश बहुत ठण्डे दिमाग से सोच-समझकर तैयार की गयी थी। इस नाटक में राज ठाकरे के सहयोगी थे—मुम्बई पुलिस, चौबीसों घण्टे प्रसारण करने वाले टी.वी. चैनल और कुछ सड़कछाप किराये के गुण्डे।

आखिर महाराष्ट्र नव निर्माण सेना ने वहाज़ँ के स्थानीय निवासियों को उत्तर भारतीयों के खिलाफ क्यों भड़काया?

दो साल पहले शिव सेना से टूटकर अलग होने के बाद चुनावों में मिली शर्मनाक हार और आने वाले चुनावों की तैयारी ही इस दंगे-फसाद का असली मकसद है। मुम्बई के उत्तर-पूर्वी कस्बों में उत्तर भारतीयों की संख्या अधिक होने की वजह से वहाँ समाजवादी पार्टी व बहुजन समाज पार्टी उनके बीच पैठ बनाने और अपना वोट बैंक बढ़ाने में लग गयी।

साम्प्रदायिक और क्षेत्रवादी राजनीति में सि)हस्त शिव सेना से टूटे राज ठाकरे के पास भी अपने राजनीतिक संकट को हल करने और अपनी पार्टी को खड़ा करने का एक ही आसान तरीका था कि खुद को खाँटी मराठी-मानुष साबित करें। उधर वैश्वीकरण के चलते भारी पैमाने पर मुम्बई की टेक्सटाईल मिलों और दूसरें उद्योगों की बन्दी के कारण वहाँ बेरोजगारी कफी तेज़ी से बढ़ी है। इस बढ़ती बेरोजगारी से वहाँ के स्थानीय युवा कामगारों में उत्पन्न असन्तोष को राज ठाकरे ने द्वेषपूर्ण संकीर्णता और साम्प्रदायिकता का रूप दे दिया। इन लाखों बेबस और बेकार मराठी नौजवानों के बीच अपना जनाधार बढ़ाने का एक क्रूरतापूर्ण, लेकिन बेहद आसान नुस्खा राज ठाकरे को मिल गया।

अपनी खानदानी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए कुछ सड़क छाप भाड़े के गुण्डों, पुलिस और मीडिया की मदद से उत्तर भारतीयों के खिलाफ पूरे शहर की सड़कों पर सरेआम ताण्डव मचाया गया। आज की राजनीतिक संस्कृति को देखते हुए यह कोई नयी बात नहीं। राज ठाकरे के दूरस्थ राजनीतिक सहयोगी व गोधरा काण्ड के प्रबन्धक नरेन्द्र मोदी ने अभी हाल ही में दिखा दिया कि घृणा की राजनीति के दम पर किस तरह बहुमत हासिल करके सत्ता पर काबिज हुआ जा सकता है। कुछेक पार्टियों को छोड़कर पक्ष-विपक्ष की बाकी सभी पार्टियों ने नरेन्द्र मोदी की राजनीति का लोहा मान लिया। राज ठाकरे को भी इसी तर्ज पर सत्ता प्राप्त करना आसान महसूस हुआ। इन पार्टियों की भावी राजनीतिक सन्ताने इससे अलग हटकर भला कैसे सोच सकती हैं?

आँकड़ों के अनुसार पूरे महाराष्ट्र के अन्दर 1961 में वहाँ की आबादी में 27 फीसदी प्रवासी थे जो घटकर 2001 में सिर्फ 16 फीसदी रहे गये हैं। केवल मुम्बई महानगर में 1961 के 66 फीसदी प्रवासियों के मुकाबले 2001 मे केवल 43 फीसदी प्रवासी रह गये थे।

एक सर्वे के मुताबिक बगैर उत्तर भारतियों के मुम्बई की अर्थव्यवस्था ठप्प होने की स्थिति में पहुँच जायेगी। दरअसल 1960-70 के दशक में राज्य की काँग्रेसी सरकार मुम्बई को भी कोलकाता की तर्ज पर निवेशकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बनाना चाहती थी। उसी समय मजदूरों को संगठित करनेवाले वामदलों को काँग्रेस किसी भी हाल में खत्म करने पर आमादा थी। मजदूरों की एकता को तोड़ने के लिए जातीय साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय भेद-भाव और नफरत के बीज बोये गये। फूटपरस्ती की इन कार्रवाइयों से शिव सेना उभरकर सामने आयी। जैसे-जैसे शिव सेना का जनाधार बढ़ता गया, मुम्बई से उसी अनुपात में प्रवासियों का भागना शुरू हुआ। पहले उसने दक्षिण भारतीयों और फिर गुजरातीयों के खिलाफ हिंसा शुरू की। लेकिन गुजराती उद्योगपतियों ने जल्दी ही उनके विरोध के उबाल को रुपयों की फुहार से शान्त कर दिया। उसके बाद उन्होंने देश में पहले से ही असुरक्षा के शिकार मुसलमानों का विरोध किया।

1992-93 में बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद फैले साम्प्रदायिक दंगे की जाँच के लिए श्री कृष्णा आयोग का गठन किया गया था। जिसने दंगे के जिम्मेदार लोगों के खिलाफ अभियोग लगाने की सिफारिशे की थी। लेकिन उस रिपोर्ट को आये 15-16 साल हो गये, फिर भी उस पर कोई कार्रवाई नहीं की गयी।

बल्कि 16 जनवरी को महाराष्ट्र सरकार द्वारा उच्चतम न्यायालय में दिये गये हलफनामे के अनुसार उसने शिव सेना के नेताओं के खिलाफ हत्या, लूट आगजनी और दंगों जैसे 1371 केसों पर पुनर्विचार न करने का फैसला लिया है जिसमें 9 ऐसे मुकदमे भी शामिल हैं जो अपनी मर्जी से शुरू करने और बन्द करने का खेल उन अपराधियों ने खेला। इसमें लगभग 1500 लोग मारे गये थे। इससे न्यायप्रणाली की पोल भी खुलती है। महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना (मनसे) इसी शिव सेना के गर्भ से पैदा हुई है जिसका नेतृत्व बाल ठाकरे के भतीजे राज ठाकरे के हाथो में है जो अपनी मातृ-संस्था की संस्कृति को आज्ञाकारी पुत्र की तरह आगे बढ़ा रहे हैं। कहावत है 'पूत के पाँव पालने में ही पहचान लिये जाते हैं।' मनसे अब मुम्बई में रोजी-रोटी चला रहे गरीब उत्तर भारतीयों, जैसे-सब्जी बेचने वाले, टैक्सी ड्राइवरों, और रेहडी-खोमचे वालों के खिलाफ गरीब मराठों और दक्षिण भारतीयों की भावनाएँ भड़काकर फैलाये गये दंगों से अपनी राजनीति की डूबती नाव को पार लगाना चाहती है। इससे घटिया मानसिकता और भला क्या हो सकती है कि कुछ लोगों का समर्थन पाने के लिए अपने ही देश के नागरिकों को बाहरी बताकर उनके साथ अमानुषिक अत्याचार किया जा रहा है। क्या भारत के संविधान में ऐसी कुत्सित कार्रवाई के लिए जगह बन गयी है?

काफी टाल-मटोल के बाद आखिरकार मुम्बई पुलिस ने राज ठाकरे को संकीर्णतावादी हिंसा और दंगों के अपराध में गिरफ्तार कर लिया। इस गैर जमानती अपराध में तीन साल तक कैद की सजा हो सकती है, लेकिन राज ठाकरे को महज तीन घण्टों के अन्दर ही रिहा कर दिया गया। राज ठाकरे ने स्वीकार किया कि उसके समर्थकों ने ही उत्तर भारतीयों के खिलाफ हिंसा की, लेकिन यह सब समाजवादी पार्टी के नेताओं के उकसाने पर की गयी।

पुलिस ने जब राज ठाकरे को गिरफ्तार किया तो 24 घण्टे सेवारत मीडिया ने उसको ज्यादा-से-ज्यादा जनता के बीच पहुँचाने और उसकी छवि बनाने का काम किया। गिरफ्तारी के बाद से ही राज ठाकरे को पूरे भारत में एक अपराधी के बजाय घर-घर में लोग मराठियों के मसीहा के रूप में जानने लगे। दर्जनों चैनल बिना ब्रेक लगाये राज ठाकरे के विद्रूप चेहरे को चमकदार बनाकर दिखाते रहे। उनकी चाहत पूरी हो गयी और काफी प्रसन्नता के साथ उसने कहा कि, **'लोगों को ज्यादा से ज्यादा उकसाओ, मीडिया खुद सम्भाल लेगी।'**

राज ठाकरे अपनी राजनीति चमकाने के लिए अलग तरह का प्रयोग कर रहा था जिसमें आश्चर्यजनक रूप में मीडिया ने उसका साथ दिया। इसके चलते राज ठाकरे को एक गलत लत लग गयी जिसका परिणाम भविष्य के गर्भ में छुपा है।

वैश्वीकरण के दौर में आज जहाँ पूँजी के उफपर कोई अंकुश, कोई रोक-टोक और कोई क्षेत्रीय सीमा नहीं है। वहीं श्रम को इलाकाई, भाषाई और धार्मिक सीमाओं में बाँधा जा रहा है। पूँजीपति के लिए भारत तो क्या, पूरी दुनिया एक है। जबकि उ.प्र. व बिहार के मजदूर मुम्बई में जाकर काम करें यह राज ठाकरे जैसों को मन्जूर नहीं है। अमिताभ बच्चन के बारे में राज ठाकरे कहता है कि 'अमिताभ बच्चन रहते मुम्बई में हैं और गाते हैं उत्तर प्रदेश की।'

अमिताभ बच्चन से तो उसकी शिकायत मात्र इतनी

है। एक तरु राज ठाकरे पश्चिमी पतित संस्कृति के प्रतीक माईकल जैक्सन को मुम्बई में आमन्त्रित करता है, उसकी पार्टी में डांस करता है और उसके गन्दे तौलिये को नीलामी में खरीदकर गर्व महसूस करता है। लेकिन दूसरी तरु वह अपने देश के पुलिस प्रशासन न्याय-प्रणाली और संविधाान को ठेंगा दिखाकर वहाँ से प्रवासियों को भगाने की मुहिम चलाता है।

हिंसा की शुरुआत के बाद, राज ठाकरे का मुम्बई के पुलिस कमिश्नर की बेटी की शादी में शरीक होना, पुलिस और ठाकरे के निर्लज्ज सम्बन्ध को दिखाता है। क्या यह उन हजारों गरीब प्रवासियों के घाव पर नमक के समान नहीं?

भूतपूर्व डी. जी. पी. जूलियो रिबेरो का कहना है कि आई. पी. सी. की धारा 151 द्ध3ऋ के तहत उसको कम से कम एक महीने के लिए न्यायिक हिरासत में भेजना चाहिए था।

इतने खौफनाक मन्जर को देखकर जिसकी चीख-पुकार, पीड़ा-वेदना भारत के हर संवेदनशील नागरिक को सुनाई दे रही है, कानून अन्धा व बहरा बना हुआ है। इस पूँजीवादी पतित लोकतन्त्र में कानून से भला और क्या उम्मीद की जा सकती है? अगर वास्तव में इस देश में लोकतन्त्र होता तो क्या ऐसे अपराधी को सरेआम सत्ता की सीढ़ियाँ चढ़ने की इजाजत होती?

महाराष्ट्र सरकार ने अपना र्ज पूरा कर दिया और समानता का परिचय देते हुए अबू आजमी व राज ठाकरे के खिलफ एक ही तरह के आरोप लगाये। इसका मतलब साफ है कि महाराष्ट्र सरकार या केन्द्र सरकार में इतना दम नहीं कि, ''बाहरी लोगों और धार्मिक अल्पसंख्यकों के खिलफ' इस तरह के नफरत भरे प्रचार करने वालों को सजा दिला सकें। इस अपराध में अकेला राज ठाकरे शामिल नहीं था। उसके साथ थी वहाँ की पुलिस, मीडिया, न्यायप्रणाली व पक्ष-विपक्ष की सभी पार्टियों की चुप्पी।

राज ठाकरे चाहता है कि किसी भी कीमत पर अपना राजनीतिक स्वार्थ हासिल करना है अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने मुम्बई को स्वर्ग बनाने और उसे चलाने वाले मजदूर, कारीगर, माली, आदि को वहाँ के मराठियों से आर्तंकित करवाया व रातों-रात हजारों की संख्या में उन्हें वहाँ से भगा दिया। राज ठाकरे के परिवार, कुटुम्बी या रिश्तेदार इस राष्ट्रवादी आन्दोलन का लुत्फ घर पर बैठकर विभिन्न चैनलों के माध्यम से उठा रहे थे। सवाल यह है कि यदि आज प्रान्त के हिसाब से भारत का बँटवारा कर भी दिया जाये और एक जगह के लोगों को दूसरी जगह जाने पर रोक लगा दी जाये तो क्या महाराष्ट्र के बेरोजगारों की समस्या समाप्त हो जायेगी। दरअसल राज ठाकरे भी इस बात को अच्छी तरह जानता है कि ऐसा सम्भव नहीं। अँगेजों के 'फूट डालो, राज करो' की तर्ज पर 'डराओ और राज करो' का नारा दिया, राज ठाकरे ने। क्या मराठी अस्मिता यही है? क्या ये लोग शिवाजी, गोखले और तिलक के आदर्शों का पालन कर रहे हैं? यह बेहद चिन्ताजनक स्थिति है। देश में इतनी बड़ी घटना के बाद की चुप्पी किसी भी जागरूक नागरिक के अन्दर खलबली मचाने के लिए काफी है।

सौ साल चले आजादी के आन्दोलन के असंख्य शहीदों की एकजुटता और कुर्बानी को ये नकली राष्ट्रवादी कलंकित कर रहे है। इस देश का दुर्भाग्य है कि यहाँ 1984 के दंगे, बाबरी मस्जिद काण्ड़ा, गोधरा काण्ड, मराठियों द्वारा प्रवासियों को पीटकर भगाना, दलितों अल्पसंख्यकों के खिलफ हिंसा या फिर उत्तर प्रदेश में जाति विशेष के प्रति अपमानजनक टिप्पणियों के जरिये वोटो का ध्रुवीकरण करना सबसे आसान राजनीतिक हथकण्ड़ा बन गया है।

आजादी के बाद से ही हमारे देश की पूँजीवादी राजनीतिक पार्टियों ने सही और तार्किक मुद्दों के बजाय जातिवाद, क्षेत्रियता या साम्प्रदायिकता फैलाकर या विवादास्पद मुद्दे उछालकर वोट बटोरने का काम किया। राज ठाकरे भी उन्हीं के नक्शे कदम पर चल रहा है। इसलिए यह जरूरी है कि हम उनकी कुटिल चालों को समझें और उनका विकल्प प्रस्तुत करें ऐसा नहीं हुआ तो समस्याओं से ग्रस्त लोग अपने असली दुश्मन को पहचानने के बजाय आपस में ही लड़ते रहेंगे। साम्प्रदायिकता, जातिवाद और क्षेत्रवाद जैसी बीमारियों से मुक्त एक नये भारत का निर्माण मूलगामी परिवर्तन के बिना सम्भव नहीं। हमें अपने बीच से ऐसी शख्सियतें पैदा करनी होगी जो मानवता के मूल्य स्थापित कर सके और एक सभ्य समाज का निर्माण कर सके।

लेकिन इस परिवर्तन के लिए भी इन सभी बटँवारों से उ+पर उठकर मेहनतकशों की मजबूत और जुझारू एकता कायम करनी होगी। इस एकता के बल पर मेहनतकश जनता के बुनियादी मुद्दों को लेकर मजबूत आन्दोलन खड़ा करके ही फूटपरस्ती की मौजूदा राजनीति को करारा जवाब देना सम्भव होगा। ु

वैश्वीकरण और बढ़ती असमानता

❑ आशु वर्मा

वैश्वीकरण के नाम पर देशी-विदेश पूँजी का हमला शुरू हुए 17-18 वर्ष बीत चुके हैं। इसके पैरोकार लोगों को इसके सुनहरे ख़्वाब दिखाते रहे हैं। वे प्लाज्मा टी. वी., इलेक्ट्रॉनिक उपभोक्ता सामान, शॉपिंग मॉल, एक्सप्रेस हाइवे, सेज और बड़ी-बड़ी रिहाइशी कॉलोनियों को वैश्वीकरण की उपलब्धि और विकास का पैमाना बताते रहे हैं, लेकिन हकीकत यह है कि पिछले 17-18 सालों में दुनियाभर में अमीर-गरीब की खाई बढ़ी है और बहुसंख्य आबादी का जीना दूभर होता गया है। इस सच्चाई को अब इस व्यवस्था के शीर्ष पर विराजमान लोग और सरकारी रिपोर्टें भी स्वीकारने लगी हैं।

सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश श्री. बी. सुदर्शन ने 'अखिल भारतीय अधिवक्ता परिषद्' के एक सम्मेलन में स्वीकार किया कि वैश्वीकरण से विकसित या विकासशील देशों की बहुसंख्यक आबादी को कोई लाभ नहीं हुआ है। वैश्वीकरण से कुछ देशों के सकल घरेलू उत्पाद में कुछ वृ) हुई है लेकिन इसके चलते वहाँ की गरीब जनता को इसका लाभ नहीं मिला है। अमीर देशों में गरीबों की संख्या पहले से अधिक बढ़ी है। दुनिया भर में अमीर और अमीर होते गये हैं जबकि गरीब और गरीब।

अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन ने वैश्वीकरण के सामाजिक आयाम पर विश्व आयोग की रिपोर्ट जारी की है। 73 देशों के सर्वे पर आधारित इस रिपोर्ट के अनुसार विश्व की 59 ीसदी जनसंख्या ऐसे देशों में रह रही है जहाँ गैर बराबरी बढ़ रही है। केवल 5 ीसदी लोग उन देशों में रहते हैं जहाँ गैर बराबरी में कुछ कमी आयी है। ये तथ्य वैश्वीकरण के आपराधिक कुकृत्यों का परिणाम है। रिपोर्ट में यह भी माना गया है कि यह स्थिति राजनीतिक उथल-पुथल को जन्म देगी।

वैश्वीकरण के खेल के नियम ही इस तरह बनाये गये थे कि इनसे साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के चन्द अमीरों को ही ायदा पहुँचता। इसके चलते दुनिया के सबसे गरीब देशों में हालात बिल्कुल ही बदतर हो गये हैं।

वैश्वीकरण के पैरोकारों ने यह दावा किया था कि इससे हर किसी को आर्थिक लाभ मिलेगा जबकि विकसित और अविकसित देशों से ढेरों प्रमाण इस बात की कहानी कहते हैं कि दुनिया भर में अधिकांश लोगों की परेशानियाँ बढ़ी ही हैं। वैश्वीकरण के नाम पर आर्थिक नीतियों के साथ-साथ सांस्कृतिक मूल्य-मान्यताओं का भी अमरीकीकरण हो रहा है। दुनिया भर में इसके खिलाफ आक्रोश बढ़ रहा है और कई जगह लोग इसका प्रतिरोध भी कर रहे हैं।

जन्नत की हकीकत :

साम्राज्यवादी समूह का सरगना अमरीका वैश्वीकरण के नाम पर पूरी दुनिया में अपना प्रभुत्व जमा रहा है लेकिन उसने दुनिया के सामने क्या आदर्श प्रस्तुत किया है इसे खुद अमरीका की आन्तरिक स्थिति से समझा जा सकता है।

अमरीका में गरीबी पर जनगणना ब्यूरों की एक रिपोर्ट के अनुसार वहाँ की 12.6 ीसदी जनता यानी कुल 3.7 करोड़ लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवन निर्वाह करते हैं। 6 वर्ष से कम आयु के लगभग 20 ीसदी बच्चे वहाँ गरीबी में रहते हैं।

दि चिल्ड्रन डिफेन्स ण्ड द्वारा प्रस्तुत 'अमरीकी बच्चों की स्थिति' नामक रिपोर्ट के अनुसार वहाँ हर पाँचवा बच्चा गरीब है और आने वाले दिनों में हर तीसरा बच्चा अपने बचपन के किसी मोड़ पर गरीबी से गुजरेगा। अमरीका की गरीबी का गहराई से अध्ययन करने वाले विद्वान बताते हैं कि हालात इससे भी कहीं गम्भीर हैं। 60 ीसदी अमरीकियों का वेतन अमरीकी आर्थिक नीति संस्थान द्वारा निर्धारित न्यूनतम वेतन 14 डॉलर प्रति घण्टा से भी कम है।

''प्रचुरता के देश में भूख'' नामक लेख में जेनट पॉपेण्डिक लिखते हैं कि अमरीका में बेघर और भुखमरी के शिकार लोगों की संख्या में तेजी से वृ) हो रही है। मकान किराये में भारी वृ) के कारण बहुत से अमरीकियों के लिए 'धूप या भूख' में से एक को चुनना मुश्किल हो रहा है। मकान किराये में बेतहाशा वृ) के चलते गरीबी के शिकार अमरीकी दाने-दाने को तरसने और दर-दर की ठोकर खाने को मजबूर हैं।

वहाँ गरीबों को मूलभूत मानव-अधिकारों से वंचित रखा जाता है। लेखक और रिपोर्टर बारबरा एहेनरिच ने कम मजदूरी वाले श्रमिकों के जीवन का अध्ययन करने के लिए उनके साथ कफी समय बिताया। वे लिखती हैं कि जब आप कम मजदूरी और यहाँ तक कि औसत मजदूरी वाले कार्यस्थल में भी प्रवेश करते हैं तो आपको अपने नागरिक अधिकारों को दरवाजे पर ही छोड़ देना पड़ता है। अमरीका जिन देशों के मानवाधिकार उल्लंघन पर चिल्ल-पों मचाता है उन देशों की तुलना में तो इन अमरीकी लोगों की स्थिति कहीं ज्यादा भयावह है। वहाँ काम के घण्टों के बारे में तो जुबान बन्द रखना ही बेहतर है। इन बातों से साफ जाहिर है कि अगर किसी देश में समग्रता में आय और सम्पत्ति में इजाफा हो रहा है तो यह जरूरी नहीं है कि उस समाज के तलछट में रहने वाले लोगों की जरूरतें भी सम्मानजनक तरीके से पूरी हो रही हो।

हम जानते हैं कि आर्थिक संकट के चलते आजकल वॉल स्ट्रीट में हालात खराब हैं पर मुख्य सड़कों पर तो हालात और भी बदतर हैं। चौंकाने वाले सरकारी आँकड़ों के अनुसार जैसे-जैसे अमरीका में आर्थिक मन्दी गहराती जा रही है, वैसे-वैसे वहाँ अपने और अपने परिवार का पेट भरने के लिए भोजन-पत्र द्धफूड स्टाम्पऋ पर निर्भर लोगों की संख्या में रिकॉर्ड इजा हो रहा है।

काँग्रेशनल बजट ऑफिस का अनुमान है कि अक्टूबर 2008 तक आवश्यक वस्तुओं की खरीद के लिए सरकारी भोजन-पत्र का प्रयोग करने वाले लोगों की संख्या 2.8 करोड़ हो जायेगी। इस इजा के पीछे मकान ;ण पर रोक, नौकरी से निकाला जाना और तेजी से बढ़ती महँगाई है। मार्च 2008 में पूरे देश में 50,000 लोगों को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। "लोरिडा, एरिज़ोना और मैरीलैण्ड सहित 6 राज्यों में भोजन-पत्र के लिए आवेदन देने वालों की संख्या में 10 ीसदी की बढ़ोत्तरी हुई है। इसके अलावा पिछले दिनों अमरीका में मकान ;ण पर रोक लगने के बाद करोड़ों लोगों के मकान जब्त किये गये हैं।

भारत की स्थिति तो और भी बदतर है। शासकों के लिए अब इसे छुपाना मुमकिन नहीं। राज्य वाणिज्य मन्त्री ने राज्यसभा में स्वीकार किया है कि डॉलर की तुलना में रुपये की कीमत बढ़ने के कारण निर्यात सेक्टर में 20 लाख रोजगार कम हुए हैं। इसका सीधा अर्थ है कि एक ही झटके में 20 लाख लोग अपनी रोजी-रोटी से महरूम होकर कंगालों की श्रेणी में धकेल दिये गये।

दूसरी तरु विशेष आर्थिक क्षेत्र द्धसेज़ऋ के द्वारा रोजगार बढ़ाने के बड़े-बड़े दावों की असलियत यह है कि अभी तक सिर्फ 61 हजार लोगों को उनमें रोजगार मिला है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में आर्थिक सुधारों के बाद से ही इसकी प्रशंसा के गीत गाये जाते रहे हैं जैसे-'शाइनिंग इण्डिया', 'महाशक्ति बनता भारत' इत्यादि। 'ट्रिकल डाउन' सि)ान्त को मानने वाले यह दावा करते थे कि आर्थिक उदारीकरण-जैसे रुपये का अवमूल्यन और पूर्ण परिवर्तन विदेशी पूँजी निवेश और आयात-निर्यात पर लगी रोक का हटना इत्यादि से औद्योगिक जगत को जो लाभ मिलेंगे उनकी जूठन समाज के सबसे गरीब तबके तक जायेगी और उसकी स्थिति में सुधार होगा। इससे उसकी क्रय-शक्ति बढ़ेगी तथा बाज़ार और अर्थव्यवस्था में उसकी हिस्सेदारी भी । यह सही है कि पिछले कुछ वर्षों में देश की विकास दर 8-9 ीसदी रही है। देश के अमीरों और उच्च मध्यम वर्ग को इसका लाभ भी मिला है, लेकिन 'ट्रिकल डाउन' जैसा कुछ नहीं हुआ है। आज देश की कुल कार्य शक्ति में से 56 ीसदी लोग स्वरोजगार में लगे हैं, 29 ीसदी लोग अस्थायी कर्मचारी हैं। जबकि नियमित रोजगार सिर्फ 15 ीसदी लोगों को ही मिला हुआ है। यानि लगभग 80 ीसदी लोगों के लिए सम्मानजनक रोजगार नहीं है। रोजगार में लगे लोगों का यह अनुपात 1990 के बाद ज़्यादा बदतर हुआ हैं। जिसके चलते न सिर्फ लोगों की आय और वेतन में कमी हुई है बल्कि बेहतर रोजगार के अवसर भी कम हुए हैं।

अभिजात सेन द्वारा प्रस्तुत एन. एस. एस. के आँकड़ों के अनुसार 1989-90 के बाद शहरी आबादी में उ+परी 20 ीसदी लोगों के उपभोग के स्तर में इजा हुआ है और उनकी प्रति व्यक्ति आय में भी 40 ीसदी की वृ) हुई है। इसी तरह ग्रामीण आबादी के ऊपरी 20 ीसदी लोगों की प्रति व्यक्ति आय में भी 20 ीसदी वृ) हुई है। इसके ठीक विपरीत निचले स्तर की 40 ीसदी शहरी आबादी की आय 1990 के बाद सिर्फ 14 ीसदी बढ़ी है। सबसे चौंकाने वाली बात यह है कि 1990 के बाद ग्रामीण आबादी के निचले 80 ीसदी लोगों की आय में कमी आयी है। जहाँ 60 ीसदी से अधिक लोग गरीबी रेखा से नीचे रह रहे हैं और अपनी पूरी आय खर्च करने के बावजूद मुश्किल से जी पाते हैं।

निकोलस कलदोर जैसे अर्थशास्त्रियों के अनुसार उ+परी तबके की बचत की मात्रा आय से अधिक है तो कुल मिलाकर गरीब को भी ायदा ही होगा। उ+पर से छनकर नीचे जाने द्धट्रिकल डाउनऋ का यह सि)ान्त विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग की नयी खोज है जिसका इस्तेमाल वह अपने हितों को बचाने के लिए करता है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि उ+परी वर्ग के हित निम्न वर्ग के खिलफ हैं।

नये-नये शॉपिंग मॉल, तीव्र गति वाले इंटरनेट, गगनचुम्बी इमारत, "लाईओवर और एक्सप्रेस हाईवें बनाने से भारत के हर शहर में न्यूयॉर्क की झलक तो मिल सकती है लेकिन शहरों के दूसरे छोर पर बसे दिहाड़ी मजदूरों और अमीरजादों की खिदमत में लगे गरीब लोगों के जीवन पर इससे कोई र्क नहीं पड़ता।

यह विकास जो उच्च वर्ग को ''अनिवार्य'' लगता है, वास्तव में ''खतरनाक'' है क्योंकि एक तरु जब प्लाज्मा टी. वी., गाँवों में भी तीव्र गति वाले इंटरनेट, डिजिटल कैमरे और चन्द लोगों की विलासिता की वकालत करने वाले लोग जब सुनहरे भविष्य की चर्चा कर रहे होते हैं तो ठीक उसी समय बेपनाह गरीबी और भारी कर्जे के कारण गरीब किसान, मजदूर और उनके परिवार अपने जीवन का अन्त कर रहे होते हैं। आय की इस गैरबराबरी का ही नतीजा है कि आज गरीब जनता स्वास्थ्य और शिक्षा से वंचित है, औसत आयु में कमी हुई है और कंगाली और बदहाली लगातार बढ़ रही है।

वैश्वीकरण पूरी दुनिया के मेहनतकशों पर साम्राज्यवादी पूँजी का हमला है। 15 वर्षों के अनुभव यही बताते हैं। इस गैरबराबरी का अन्त साम्राज्यवादी-पूँजीवादी वैश्वीकरण के खिलफ निर्णायक संघर्ष तथा न्याय और समता पर आधारित एक नयी समाज व्यवस्था की स्थापना के द्वारा ही सम्भव है। q

किराये की कोख

❑ साक्षी

किराये का मकान, किराये की दुकान, किराये के कपड़े, गहने, फर्नीचर और अब किराये की कोख। कोख? जी हाँ! ये कोई चौंकाने वाली बात नहीं। आज के दौर की पूँजीवादी मुनाफाखोर व्यवस्था में दौलत बटोरने का यह एक नया हथकण्डा है।

इन्सान के शरीर का खून-पसीना चूसकर, उसका शोषण करके मुनाफा कमाने का धन्धा तो बहुत पुराना है और हर जगह देखा जा सकता है यहाँ तक कि अंगों की खरीद-फरोख्त में भी यह बाजार व्यवस्था पीछे नहीं है। लेकिन इस बात पर यकीन करना थोड़ा कठिन है कि माँ की ममता और शिशु को जन्म देने की उसकी नैसर्गिक क्षमता को भी अब मुनाफे का साधन बना दिया गया है। हमारे देश की माँ-बहनों की कोख भी किराये पर लेकर देशी-विदेशी पूँजीपतियों ने उससे मुनाफा कमाना शुरू कर दिया है। किराये पर कोख लेना वह प्रक्रिया है जिसे सरोगेटिंग कहा जाता है। सरोगेट शब्द का अर्थ है किसी की जगह लेना या किसी दूसरे के बदले इस्तेमाल होना। जो माँ अपनी कोख किराये पर देती है उसे 'सरोगेट मदर' का नाम दिया जाता है। इस कारोबार में एक समझौते के जरिये किसी नि:सन्तान दम्पत्ति के लिए कोई औरत अपने पेट में उनका बच्चा पालने के लिए तैयार हो जाती है और इसके बदले वह दम्पत्ति उसे कुछ रुपये देता है। इस प्रक्रिया में माँ और पिता के बीज एक टेस्ट ट्यूब में उर्वरित (फर्टाइलाइज्ड) किये जाते हैं। इससे जिस बीज का निर्माण होता है उसे 'सरोगेट मदर' के गर्भ में प्रत्यारोपित कर दिया जाता है।

सरोगेटिंग के काम में तीन पक्ष शामिल होते हैं पहला वह अस्पताल और डॉक्टर जो इस काम के लिए नि:सन्तान दम्पत्ति से मोटी रकम लेता है। दूसरा वह स्त्री जो अपनी कोख किराये पर देने के लिए मजबूर होती है। तीसरा पक्ष वह दम्पत्ति जो सन्तान पाने के लिए अस्पताल, डॉक्टर या दलाल के पास जाता है और पैसे के बदले उनकी सेवा लेता है।

माँ बनना एक औरत के लिए एक भावनात्मक अहसास है लेकिन यह काम दुनिया के किसी भी काम से कहीं ज्यादा जटिल, कष्टसाध्य और कठिन है। बच्चे को गर्भ में धारण करने और नौ महीनों तक होनेवाली परेशानियों के आलवा प्रसव पीड़ा को झेलना कितना कठिन है यह वह औरत ही जान सकती है जिसने बच्चे को जन्म दिया हो। इसकी भरपाई सन्तान प्राप्ति की अनुपम खुशी के रूप में होती है। बच्चे को गोद में लेने के बाद स्त्री अपनी प्रसव पीड़ा और दूसरी परेशानियों को भुला देती है लेकिन आज की हृदयहीन समाज व्यवस्था पतित होकर वहाँ पहुँच गयी है कि एक औरत अपनी गरीबी के कारण केवल कुछ पैसों की खातिर सारी परेशानियाँ एवं दर्द झेलने और मातृत्व की भावना से शून्य किसी पराये शिशु को जन्म देने को मजबूर है।

अलग-अलग देश सरोगेट मदर के विषय में अपनी अलग-अलग राय रखते हैं। कुछ देशों जैसे स्वीडन, फ्रांस एवं जर्मनी ने जनमत संग्रह कराकर इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया है जबकि कनाडा में सरोगेट मदर के काम में पैसे के लेन-देन पर रोक है। इग्लैण्ड में इसके लिए सिर्फ एक छोटी सी रकम ही दी जा सकती है। इसी प्रकार विकासशील देशों जैसे अर्जेण्टीना एवं दक्षिण अफ्रीका में सरोगेट मदर पर प्रतिबन्ध तो नहीं है लेकिन नियम-कानून के द्वारा काफी नियन्त्रित है। सरोगेटिंग के द्वारा सन्तान की इच्छा रखने वाले दम्पत्ति अपने बीज से ही बच्चा पैदा करना चाहते हैं यदि उनमे से कोई अक्षम हो तो वे बीज बैंक से मोटी रकम देकर बीज खरीदकर उसे प्रत्यारोपित करवाते हैं। किसी भी स्थिति में वे सरोगेट मदर के निजी बीज का उपयोग नहीं करना चाहते। बच्चा चाहने वाले देशी-विदेशी लोग काफी पैसे वाले होते हैं जबकि अपनी कोख किराये पर देने वाली औरत गरीब परिवार से। धनवान लोग नहीं चाहते कि उस बच्चे में किसी भी प्रकार से उस औरत के गुण आ जाये या उसके साथ माँ का भावनात्मक लगाव हो, साथ ही उन्हें यह भी खतरा सताता है कि कहीं अपने अंश मौजूद होने के कारण वह स्त्री उन्हें बच्चा देने से इन्कार न कर दे और उस पर अधिकार न जताने लगे। वे तो एक बेजान मशीन की तरह औरत का उपयोग करते हैं।

गौरतलब है कि कोख बेचने वाली ज्यादातर स्त्रियाँ भारत जैसे विकासशील देशों की होती हैं जिन्हें गरीबी के कारण यह काम करना पड़ता है। इन देशों में औरतों की

दुर्दशा किसी से छिपी नहीं है। जहाँ अधिकांश औरत कुपोषण और खून की कमी से ग्रसित हैं। प्रसव के दौरान उचित देख रेख की कमी के चलते जच्चा-बच्चा का जीवन अक्सर खतरे में पड़ जाता है। प्रसव के लिए भी उनके लिए अच्छी सेवाएँ मौजूद नहीं होती। जाहिर है कि उन महिलाओं के लिए यह कार्य कितना कठिन और जटिल होता है। यह जोखिम उठाना उनके लिए जिन्दगी और मौत का सवाल होता है।

किराये की कोख के इस घृणित व्यापार के समर्थक अपने पक्ष में ऐतिहासिक उदाहरण देकर उसे सही साबित करना चाहते हैं। वे बताते हैं कि 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' में भी सरोगेट मदर का जिक्र आता है। साराह की आया हेगर ने अपनी मालकिन के लिए बच्चा जनने की खातिर अब्राहम से झूठ बोल दिया था। इसके अलावा महाभारत में भी पाण्डु के अक्षम होने के कारण पाण्डवों की उत्पत्ति में देवताओं ने सहयोग किया। ऐसे उदाहरणों के द्वारा वे अपने कुकृत्यों को उचित ठहराते हैं। लेकिन क्या कुन्ती या हेगर ने इस काम के लिए किसी से मोटी रकम ली थी या किसी बीज बैंक से बीज खरीदा था, बच्चा लेने के बाद साराह ने हेगर के लिए अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं समझा था? क्या पाँचों पाण्डव उन देवताओं की सन्तान नहीं माने जाते, क्या बीज देने वाले व्यक्ति को अपना परिचय छुपाने की जरुरत थी और सबसे बड़ा प्रश्न कि क्या उस दौर में गरीबी और मजबूरी के चलते खरीद-फरोख्त की गयी? क्या नि:सन्तान दम्पत्ति ने सन्तान प्राप्ति के लिए सौदेबाजी की थी? क्या उस प्रक्रिया में बिचौलिये डॉक्टर और चिकित्सा संस्थान मुनाफाखोरी और दलाली कर रहे थे!

अपने गलत कार्यों को ऐतिहासिक उदाहरणों से सही साबित करने वालों के पास इन तमाम प्रश्नों का शायद ही कोई जवाब हो।

भारत में इस व्यवसाय को सुचारू रूप से चलने देने के लिए 'भारतीय चिकित्सा शोधा परिषद' एवं 'राष्ट्रीय चिकित्सा विज्ञान संस्थान' ने एक निर्देशिका जारी की है जिसमें बताया गया है कि–

1. भ्रूण विकास के दौरान सरोगेट मदर का पूरा खर्च सन्तान चाहने वाले दम्पत्ति उठायेंगे।
2. सरोगेट माँ की उम्र 45 वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए।
3. सरोगेट मदर के पूरी तरह होशोहवास में और सन्तुष्ट होने के बाद ही भ्रूण का प्रत्यारोपण किया जायेगा।
4. सरोगेट मदर का एच. आई. वी. टेस्ट होगा।
5. उसे यह प्रमाण देना होगा कि वह ड्रग्स का सेवन नहीं करती।
6. कोई भी महिला अपने जीवन काल में 3 से अधिक बार सरोगेट मदर नहीं बन सकती।

ये सभी निर्देश सरोगेट माँ को नियन्त्रित करने के लिए हैं। सन्तान चाहने वाले दम्पति के लिए तो एक ही निर्देश है 'पैसा फेंको तमाशा देखो।' वैसे भी हमारे देश में जहाँ कानून की सरेआम धज्जियाँ उड़ायी जाती हों वहाँ कोई भी मार्गदर्शिका कितनी कारगर है यह स्पष्ट ही है। इसका पालन करना दम्पत्ति की सुविधा और सरोगेट मदर की मजबूरी पर निर्भर करता है। इस धन्धे पर रोक लगाना तो दूर उल्टे इसे खुलेआम बढ़ावा दिया जा रहा है। यह काम तो गर्भस्थ शिशु के लिंग परीक्षण की तरह अवैध नहीं माना जाता जिसे चोरी छिपे किया जाये बल्कि विज्ञापन देकर गरीब महिलाओं को इस ओर आकर्षित किया जा रहा है।

पुणे के एक संस्थान ने अपने सरोगेटिंग के कारोबार का खुलकर प्रचार किया और बीस से तीस वर्ष की महिलाओं को संस्था की सदस्यता के लिए आमन्त्रित किया। यह साफ तौर से देखा जा सकता है कि इस व्यवसाय को वेश्यावृत्ति या देह व्यापार की तरह खराब भी नहीं माना जाता। इसके पक्ष में तर्क देते हैं कि इससे महिलाएँ रोजगार पा रही हैं और विदेशी मुद्रा अर्जित कर रही हैं। इससे उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति मजबूत हो रही है। उनका सशक्तिकरण हो रहा है। गुजरात के आनन्द जिले के एक अस्पताल के मालिक और डॉक्टर इसे कमाई का नया स्रोत मानते हैं। वहीं दूसरी ओर 'भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान परिषद्' इसे विदेशी मुद्रा का बढ़िया स्रोत बताती है क्योंकि कुछ वर्षों में इससे 24,000 करोड़ की विदेशी मुद्रा की कमाई हुई। किराये की कोख की वकालत करने वाले लोग औरतों की शारीरिक-मानसिक यन्त्रणा को रोजगार का नाम दे रहे हैं लेकिन यह घृणित रोजगार भी कितना स्थायी है? एक बार में वह अपनी कोख मात्र 50,000 से 2,00,000 रुपये में बेचकर क्या गुजर-बसर कर सकती है? कभी-कभी तो इससे कम कीमत पर भी सौदा होता है। जिस स्त्री की आर्थिक

स्थिति जितनी कमजोर होती है कीमत उतनी ही कम होती है। विदेशियों को भारत में आकर बहुत ही सस्ते में एक कोख मिल जाती है जिसका एक थोड़ा हिस्सा सरोगेट मदर को मिलता है और उनकी इस पूरी प्रक्रिया पर अपने देश के मुकाबले उन्हें बहुत कम खर्च करना पड़ता है। एक दम्पत्ति को भारत में सन्तान प्राप्त करने के लिए कुल 1,00,000 से 1,20,000 तक खर्च करना पड़ता है जबकि अपने देश में उन्हें इसके लिए 6,00,000 से 12,00,000 रुपये खर्च करने पड़ते हैं सरोगेट मदर को इस पूरी प्रक्रिया में 25,000 से 5,00,000 रुपये तक की रकम मिलती है। केवल पैसों की बचत ही उन्हें भारत में कोख लेने के लिए प्रोत्साहित नहीं करती बल्कि प्रसव पीड़ा से बचने के लिए व समय बचाने के लिए भी वे ऐसा करते हैं।

सरकार इसकी बुराई को खत्म करने लिए कोई ठोस कानून बनाने के बजाय इसे विदेशियों द्वारा गरीब भारतीय महिलाओं के लिए रोजगार का तोहफा मान रही है। नि:सन्तान दम्पत्ति विदेशों से भारत की ओर अधिक से अधिक रूख कर रहे हैं। सरकार के प्रति उनकी कोई जवाबदेही नहीं है जैसे सरोगेटिंग की प्रक्रिया में किसी औरत के साथ यदि कोई दुर्घटना हो जाये, जन्म देते समय यदि उसकी या उसके बच्चे की मृत्यु हो जाये, उस दौरान उसे यदि कोई घातक बीमारी हो जाये, प्रसव के बाद बच्चे को छीन लिए जाने के कारण मानसिक आघात या अन्य कोई दुर्घटना हो जाये तो उसके लिए कोई ठोस कानूनी संरक्षण नहीं है। विदेशी मुद्रा की कमाई एक ऐसा आकर्षण है जिसके आगे यहाँ का शासक वर्ग किसी भी घिनौनी स्थिति को स्वीकार करने के लिए नि:संकोच तैयार रहता है। सरोगेट मदर से जल्दी-से-जल्दी सारी कार्रवाई पूरी करवा ली जाती है, चन्द सिक्कों के बदले वे उसकी मानवीय भावनाओं और संवेदनाओं की बलि चढ़ाने में किसी भी तरह की हिचक महसूस नहीं करते।

वैश्वीकरण के नाम पर आर्थिक नव-उपनिवेश को स्थापित करने वाला सम्पूर्ण विश्व को विश्वग्राम बनाने की झूठी बात करने वाला पूँजीपति वर्ग इसे रोजगार और विदेशी मुद्रा अर्जित करने का साधन बताते हुए महिमामण्डित कर रहा है।

आउटसोर्सिंग द्धविदेशियों द्वारा सस्ते श्रम के लोभ में भारत में अपना काम करवानाऋ पहले कम्प्यूटर सॉ"टवेयर और कॉल सेण्टर के रूप में या अन्य व्यवसाय में सुनने को मिलता था, सरोगेट मदर के इस धन्धे को भी आउटसोर्सिंग के जरिये विदेशी मुद्रा कमाने का साधन बताया जा रहा है। औरत की कोख को मजदूर की मजदूरी से भी सस्ती बनाकर जनता के शोषण के जघन्यतम तरीकों द्वारा अधिक से अधिक पूँजी कमाना ही उनका उद्देश्य है। सरोगेटिंग के बढ़ते व्यापार द्धआउटसोर्सिंगऋ को प्रोत्साहित करने के पीछे भी यहाँ के शासकों की यही मन्शा है। ❑

धीरे-धीरे

मेरे दोस्तो!
तुम मौत को नहीं पहचानते
चाहे वह आदमी की ही
या किसी देश की
चाहे वह समय की हो
या किसी वेश की।

सब-कुछ धीरे-धीरे ही होता है
धीरे-धीरे ही बोतलें खाली होती हैं
गिलास भरता है,
हाँ, धीरे-धीरे ही
आत्मा खाली होती है
आदमी मरता है।

–सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

जरा याद इन्हें भी कर लो...
अमर शहीद महावीर सिंह

❑ सरिता

क्रान्तिकारियों और देशभक्त जनता के आन्दोलनों से घबराई ब्रिटिश हुकुमत ने 'लाहौर षड्यन्त्र केस' के बहाने एक अध्यादेश जारी करके जेल में बन्द देशभक्त ''मुजरिमों'' से 'अपील' करने का उनका अधिकार छीन लिया। भगत सिंह और उनके साथियों पर मुकदमें का नाटक करके 7 अक्टूबर को सजा सुना दी गयी। भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी की सजा दी गयी और अन्य साथियों को आजीवन कारावास, महावीर सिंह इन्हीं में से एक थे।

महावीर सिंह का जन्म 16 सितम्बर 1904 को उत्तर प्रदेश के शाहपुर टहला गाँव में हुआ था। पिता देवी सिंह एक अच्छे वैद्य थे, माँ का नाम शारदा देवी था। स्कूली दिनों में ही महावीर सिंह की विद्रोही भावनाएँ मुखर होने लगी थीं। ब्रिटिश परस्त अधिकारियों की ओर से आयोजित एक सभा में छोटे-छोटे बच्चों को ले जाकर जबरदस्ती बैठाया गया था। लेकिन बच्चों ने 'महात्मा गाँधी की जय' का उद्घोष करके सभा में हंगामा खड़ा कर दिया। जिसके कारण कार्यक्रम को रद्द करना पड़ा और बालक महावीर को 'विद्रोहियों' के नेता के रूप में सजा दी गयी।

उस समय पूरे देश की जनता में ब्रिटिश हुकूममत के खिलाफ असन्तोष और आक्रोश व्याप्त था। देश के विभिन्न इलाकों में किसानों का स्वतः स्फूर्त आन्दोलन जारी था। मजदूरों और अन्य तबकों का आन्दोलन भी अपने-अपने तरीके से चल रहा था। ठीक ऐसी ही परिस्थिति में 1922 के चौरी-चौरा काण्ड को बहाना बनाकर महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया। सारा देश स्तब्ध रह गया। खासकर नौजवानों को भारी निराशा हुई। वे नये रास्ते की तलाश में आगे बढ़े और क्रान्तिकारी आन्दोलन से जुड़ते चले गये। क्रान्ति के रास्ते से देश को आजाद कराने के अतिरिक्त इनका और कोई मकसद नहीं था। उसी दौरान 1925 में महावीर सिंह कॉलेज की पढ़ाई करने कानपुर पहुँचे। अपनी पढ़ाई के इन्हीं दिनों में महावीर सिंह क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आये। उस समय काकोरी काण्ड में शामिल क्रान्तिकारियों को जेल से छुड़ाने के प्रयास में भगत सिंह और सुखदेव कानपुर में डी. ए. वी. कॉलेज के हॉस्टल में डेरा जमाये हुए थे।

महावीर सिंह ने अपनी जिन्दगी देश के लिए समर्पित करने का फैसला भी उसी समय किया। ''शादी न करने के बारे में तुम्हारे फैसले का हम विरोध नहीं करेंगे। देशसेवा का मार्ग एक कठिन तपस्या का मार्ग है। तुम अगर इस मार्ग पर निकल पड़े हो तो पीछे मुड़ कर नहीं देखना और अपने साथियों को धोखा कभी मत देना।'' पिता ने एक खत लिखकर महावीर सिंह को आर्शीवाद दिया। महावीर सिंह निकल पड़े भारतीय क्रान्ति के मार्ग पर और छुपाकर हथियारों को क्रान्तिकारियों तक पहुँचाने जैसे जोखिम भरे कामों में शामिल होने लगे।

लाहौर में 'साइमन कमीशन वापस जाओ' के नारे लगाते काले झण्डे लिए आन्दोलनकारियों ने लाला लाजपत राय के नेतृत्व में प्रदर्शन किया। पुलिस ने लाठी चार्ज किया जिसमें लालाजी जख्मी हो गये और इसी वजह से बाद में उनकी मृत्यु हो गयी। क्रान्तिकारियों ने इसे राष्ट्र का अपमान माना और लालाजी पर लाठी से हमला करने वाले अँग्रेज अधिकारी को जान से मारने का निर्णय ले लिया गया। इस योजना को कामयाब बनाने में भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद और राजगुरु के साथ महावीर सिंह का भी भारी योगदान रहा।

दिल्ली की असेम्बली में 1929 में भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त द्वारा बम फेंकने के बाद क्रान्तिकारियों की धर-पकड़ शुरू हो गयी। महावीर सिंह भी गिरफ्तार कर लिये गये। जेल के अधिकारियों के साथ असहयोग, भूख हड़ताल और उनके साथ मारपीट करने में महावीर सिंह हमेशा आगे रहे। भूख हड़ताल के दौरान अधिकारी और डॉक्टर, कैदियों को जबरदस्ती दूध पिलाते थे। जिसका महावीर सिंह व्अन्य क्रान्किारियों की तरहक्ष जी-जान से विरोध करते थे। गले से दूध पिलाने वाली रबड़ की नली को नोचना, खाँस-खाँस कर उसे बाहर निकालना, दाँतों से उसको दबाकर रखना आदि तरीके से वे जेल अधिकारियों की भूख हड़ताल तोड़ने की कोशिशों को नाकाम करते थे।

महावीर सिंह ने दुश्मन के न्यायालय को मान्यता देने से इन्कार कर दिया था। 1930 में अँग्रेजी शासन ने 'लाहौर षड्यन्त्र केश' को जल्दी से जल्दी निपटाने के लिए उस केस से सम्बन्धित एक आदेश जारी किया जिसके अनुसार एक ट्रिब्युनल बनाने की बात कही गयी थी जो अभियुक्तों की अनुपस्थिति में भी केस चला सकता था और बिना सबूत के केस की कार्रवाई पूरी करके अपना निर्णय भी दे सकता था। उसके निर्णय के खिलाफ अपील भी नहीं की जा सकती थी।

अंग्रेजी शासन के इस 'अदालती-मजाक' के खिलाफ महावीर सिंह तथा अन्य साथियों–कुन्दन लाल, बटुकेश्वर दत्त, गया प्रसाद और जितेन्द्र नाथ सान्याल आदि ने किसी भी प्रकार की अदालती कार्रवाई में शामिल होने से इन्कार कर दिया।

महावीर और साथियों का वक्तव्य लाहौर षड्यन्त्र केस के क्रान्तिकारियों की राजनीतिक और वैचारिक समझ और पक्षधरता पर प्रकाश डालता है।

''साम्राज्यवाद का मतलब एक इन्सान द्वारा दूसरे इन्सान को और एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र को ठगने और उसका शोषण करने वाली नीतियों के विकास की उच्चतम अवस्था है। 'न्याय और शान्ति' के रक्षक होने का बहाना बनाकर वे शान्ति का गला दबा देते हैं, अशान्ति फैला देते हैं, निरपराधियों की जान ले लेते हैं और हर तरह के अत्याचारों को प्रोत्साहित करते हैं।

''इन्सान होने के नाते हर व्यक्ति को आजादी का हक है। इसे कोई भी छीन नहीं सकता। यह हमारा विश्वास है कि हर इन्सान को अपनी मेहनत का फल पाने का सम्पूर्ण हक है और हर राष्ट्र अपने साधनों का सम्पूर्ण मालिक है। यदि कोई शासन उनको इन प्राथमिक हकों से वंचित रखता है तो उस शासन को उखाड़ फेंकना, उसे नष्ट कर देना, लोगों का केवल अधिकार ही नहीं बल्कि कर्त्तव्य भी है, ब्रिटिश शासन इन्सानियत के खिलाफ है। इसलिए क्रान्ति के मार्ग से इस शासन को समाप्त करने वाली हर कार्रवाई और आन्दोलन न्याय-संगत है। इस बात पर हमारा दृढ़ विश्वास है। हम परिवर्तन चाहते हैं। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन। हम आज की समाज व्यवस्था को जड़ से उखाड़ कर उसकी जगह एक ऐसी समाज व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं जिसमें इन्सान का इन्सान के द्वारा शोषण नहीं होगा और हर व्यक्ति को हर क्षेत्र में सम्पूर्ण आजादी मिल सकेगी। हम जान चुके हैं कि जब तक समाज की सम्पूर्ण रचना नहीं बदली जायेगी और उसकी जगह समाजवादी समाज की स्थापना नहीं होगी तब तक महाविनाश के खतरे से दुनिया मुक्त नहीं हो सकती, ''सबका हित'' के सि)ान्त पर क्राान्तिकारियों का विश्वास है। हम शान्ति के उपासक हैं। सच्ची और टिकाऊ शान्ति डर और बन्दूक की नली से निर्मित नहीं की जाती। 'न्याय और समानता' उस शान्ति का आधार होता है।'

महावीर सिंह और उनके सात साथियों को आजन्म कारावास की सजा हुई। बेलारी जेल में भी महावीर सिंह का विरोध जारी रहा। अपने नम्बर का बैज छाती पर न लटकाने, टोपी न पहनने और परेड में खड़ा होने से इन्कार करने पर अन्य सत्याग्रहियों की तरह इन्हें भी पीटा जाने लगा। महावीर सिंह ने इसका उग्र विरोध किया और वे सुपरिटेण्डेण्ट से भिड़ गये। जिसके खिलाफ महावीर सिंह को बेतों की मार की भयंकर सजा मिली। चमड़ी उधेड़ने वाली इस बेंत की मार का महावीर सिंह ने बहादुरी से सामना किया। जितनी तेजी से बेंत हवा में जाता और उनके शरीर पर पड़ता, उतनी ही जोर से इन्कबाल का नारा हवा में गूँजता।

जनवरी, 1933 में महावीर सिंह और उनके साथियों को मद्रास से अण्डमान द्धकाला पानीऋ भेज दिया गया। वहाँ आदमी को जानवर की तरह रखा जाता था। इसी कारण आत्मसम्मान बचाने, अच्छा खाना, पढ़ने-लिखने की सुविधा, रात के समय रोशनी का प्रबन्ध आदि माँगों को लेकर राजनीतिक कैदियों ने 12 मई, 1933 से भूख हड़ताल शुरू कर दी। जबरदस्ती दूध और दवा पिलाने का विरोध करने पर महावीर सिंह के नेड़े में नली घुसेड़ दी गयी, जिससे तड़प-तड़प कर 17 मई, 1933 को उनका देहान्त हो गया और वे भारत माता की गोद में हमेशा के लिए सो गये।

उन्होंने देश को आजाद कराने और समाजवाद की स्थापना की लड़ाई में अपने प्राणों की आहुति दे दी। यह दुर्भाग्य है कि देश के ऐसे बलिदानी क्रान्तिकारियों को आज कोई याद करने वाला भी नहीं, जबकि अंग्रेजों की चाटुकारिता करने और उनके साथ मिलकर जनता पर जुल्म करने वाले देश-द्रोहियों के वारिश आज भी सत्ता के शीर्षस्थ पदों पर विराजमान हैं। देश के नौजवानों को महावीर सिंह जैसे क्रान्तिकारियों के जीवन और विचारों से प्रेरणा लेते हुए देश की असली आजादी के प्रयास में जुटना होगा। q